वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४८ अंक ८ अगस्त २०१०
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक ८

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ४८ **अगस्त २०१०** **अंक ८**

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

अज्ञानमूलोऽयमनात्मबन्धो
नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः ।
जन्माप्ययव्याधिजरादि-
दुःखप्रवाहपातं जनयत्यमुष्य ।।१४६।।

अन्वय – अज्ञान-मूलः अयं अनात्म-बन्धः नैसर्गिकः अनादिः अनन्तः ईरितः अमुष्य जन्म-अप्यय-व्याधि-जरादि-दुःख-प्रवाह-पातं जनयति ।

अर्थ – अज्ञान से उत्पन्न, देह आदि अनात्म वस्तुओं में (तादात्म्य-रूपी) इस बन्धन को स्वाभाविक अनादि तथा अनन्त कहा गया है। यही जीव के लिये जन्म, मृत्यु, रोग, वार्धक्य आदि दुःखों के प्रवाह की सृष्टि करता रहता है।

नास्त्रैर्न शस्त्रैरनिलेन वह्निना
छेत्तुं न शक्यो न च कर्मकोटिभिः ।
विवेकविज्ञानमहासिना विना
धातुः प्रसादेन शितेन मञ्जुना ।।१४७।।

अन्वय – (अयं बन्धः) अस्त्रैः न, शस्त्रैः न, अनिलेन वह्निना न, कर्म-कोटिभिः च छेत्तुं न शक्यः । धातुः प्रसादेन शितेन मञ्जुना विवेक-विज्ञान-महा-असिना विना (छेत्तुं न शक्यः) ।

अर्थ – यह अज्ञान-बन्धन न तो अस्त्र-शस्त्रों से, न वायु से, न अग्नि से और न करोड़ों कर्मों के द्वारा ही नष्ट हो सकता है। विधाता की कृपा से प्राप्त विवेक-विज्ञान-रूपी तीक्ष्ण सुन्दर महा-खड्ग के द्वारा ही इसे नष्ट किया जा सकता है।

श्रुतिप्रमाणैकमतेः स्वधर्मनिष्ठा तयैवात्मविशुद्धिरस्य ।
विशुद्धबुद्धेः परमात्मवेदनं तेनैव संसारसमूलनाशः।।१४८

अन्वय – श्रुति-प्रमाण-एकमतेः स्वधर्म-निष्ठा, तया एव अस्य आत्म-विशुद्धिः, विशुद्धबुद्धेः परमात्म-वेदनं, तेन एव संसार-समूल-नाशः (भवति) ।

अर्थ – वेद-प्रमाण में विश्वास तथा (उनमें कथित) कर्तव्य-कर्मों में निष्ठा – इन्हीं के द्वारा व्यक्ति की चित्त-शुद्धि होगी, इस विशुद्ध चित्त के द्वारा ही परमात्मा का ज्ञान होगा और इस ज्ञान के द्वारा ही संसार-वृक्ष का समूल नाश होगा।

कोशैरन्नमयाद्यैः पञ्चभिरात्मा न संवृतो भाति ।
निजशक्तिसमुत्पन्नैः शैवालपटलैरिवाम्बु वापीस्थम्।।१४९

अन्वय – निजशक्तिसमुत्पन्नैः शैवालपटलैः संवृतः वापीस्थम् अम्बु इव आत्मा अन्नमयाद्यैः पञ्चभिः कोशैः (संवृतः) भाति न ।

अर्थ – जैसे कुएँ का जल, अपनी ही शक्ति से उत्पन्न शैवाल-समूह के द्वारा आच्छन्न हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी (अपनी ही शक्ति से उत्पन्न) अन्नमय आदि कोशों से आच्छादित हो जाने के कारण प्रकाशित नहीं होती।

तच्छैवालापनये सम्यक् सलिलं प्रतीयते शुद्धम् ।
तृष्णासन्तापहरं सद्यः सौख्यप्रदं परं पुंसः ।।१५०।।

अन्वय – तत्-शैवाल-अपनये तृष्णा-सन्ताप-हरं सद्यः परं सौख्य-प्रदं शुद्धं सलिलं पुंसः सम्यक् प्रतीयते ।

अर्थ – उस शैवाल-समूह को हटा देने पर, व्यक्ति के समक्ष, प्यास का कष्ट दूर करनेवाला तथा पीते ही तत्काल तृप्ति प्रदान करनेवाला अत्यन्त शुद्ध जल प्रकट हो जाता है।

पञ्चानामपि कोशानामपवादे विभात्ययं शुद्धः ।
नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परः स्वयंज्योतिः ।।१५१

अन्वय – पञ्चानाम् कोशानाम् अपि अपवादे, अयं शुद्धः नित्यानन्द-एकरसः प्रत्यग्-रूपः परः स्वयंज्योतिः विभाति ।

अर्थ – (वैसे ही विवेक-बुद्धि से) पंचकोशों में आत्मबुद्धि नष्ट हो जाने पर विशुद्ध, नित्य, आनन्दमय, एकरस, अन्तर्यामी -रूप, सर्वश्रेष्ठ, स्वयंज्योति, अन्तरात्मा प्रकट हो जाती है।

मातृ-वन्दना

– १ –

(भूपाली–कहरवा)

करुणादृष्टि करो, जननी, करुणादृष्टि करो;
तुम ममता की मूरत हो माँ, मैं बालक बिगरो ।। जननी.

मोह बड़ा है इस जीवन में, चित्त पड़ा है तन में धन में;
भटक गया हूँ यम-उपवन में, अब तो बाँह धरो ।। जननी.

दुख पाता आया हूँ निशिदिन, तो भी ना चेता मेरा मन;
आखिर शरण तुम्हारी आया, सुत-सन्ताप हरो ।। जननी.

मेरा जीवन निर्जन मरु है, निष्पत्रक, ज्यों सूखा तरु है;
तृषा मिटाने को चिर दिन की, बनकर सुधा झरो ।। जननी.

खेल-खिलौने अब ना भाते, गोद उठाओ मुझको माते;
प्रतिपल तुम 'विदेह' अन्तर में, मधुमय स्नेह भरो ।। जननी.

– २ –

(भैरवी–रूपक)

चित्त चरणों में सदा हो, माँ हमें वरदान दे;
जगत् में कर्तव्य-निष्ठा, और हृदि में ज्ञान दे ।।

पाँव विचलित हों नहीं, सन्मार्ग पर चलता रहूँ;
आपदाओं-अड़चनों के बीच भी बढ़ता रहूँ;
दिव्यता का अंश हूँ, मुझको सतत यह भान दे ।।

हों सभी मेरे सुहृद, पीड़ित किसी को ना करूँ;
हो सका तो आर्त-जन की, शक्ति भर सेवा करूँ;
बस यही है याचना, निज लक्ष्य का सन्धान दे ।।

इस जगत् में कुछ नहीं, अपना जिसे मैं कह सकूँ;
एक तेरे आसरे सुख-दुख सभी कुछ सह सकूँ;
हूँ जननि तव तनय मैं, इसका मुझे अभिमान दे ।।

– 'विदेह'

अग्निमयी उक्तियाँ

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

जो लोग दूसरों को स्वाधीनता देने के लिये तैयार नहीं, क्या वे स्वयं स्वाधीनता पाने योग्य हैं? व्यर्थ का असन्तोष जताते हुए शक्तिक्षय करने के बदले हम चुपचाप वीरता के साथ काम करते रहें। मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि संसार की कोई भी शक्ति किसी से वह वस्तु अलग नहीं रख सकती, जिसके लिये वह सचमुच ही योग्य हो। अतीत तो हमारा गौरवमय था ही, पर मेरा आन्तरिक विश्वास है कि भविष्य और भी गौरवमय होगा।[२७]

परोपकार ही जीवन है, परोपकार न करना ही मृत्यु है। जितने नरपशु तुम देखते हो, उनमें नब्बे प्रतिशत मृत हैं, प्रेत हैं, क्योंकि जिसमें प्रेम नहीं, वह जी भी नहीं सकता। मेरे बच्चो, सबके लिये तुम्हारे दिल में दर्द हो – गरीब, मूर्ख तथा पददलित लोगों के दु:ख को तुम महसूस करो; और तब तक महसूस करो, जब तक कि तुम्हारे हृदय की धड़कन न रुक जाय, मस्तिष्क न चकराने लगे और तुम्हें ऐसा न प्रतीत होने लगे कि तुम पागल हो जाओगे।[२८]

डरो मत मेरे बच्चो। अनन्त नक्षत्रखचित आकाश की ओर भयभीत दृष्टि से ऐसे मत ताको, मानो वह तुम्हें कुचल ही डालेगा। धैर्य रखो। देखोगे, कुछ ही घण्टों में वह सब-का-सब तुम्हारे पैरों तले आ गया है। धैर्य रखो। न धन से काम होता है, न नाम से; न यश काम आता है, न विद्या; प्रेम से ही सब कुछ होता है। चरित्र ही कठिनाइयों की संगीन दीवारें भेदकर अपना रास्ता बना सकता है।[२९]

रोटी! रोटी! मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि वह ईश्वर, जो यहाँ पर मुझे रोटी नहीं दे सकता, वही स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख देगा! राम कहो! भारत को उठाना होगा, गरीबों को भोजन देना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों को मिटाना होगा। पुरोहित-प्रपंच और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नामो-निशान न रहे! सबके लिये अधिक अन्न और सबको अधिकाधिक अवसर मिलते रहें।[३०]

उत्साह से हृदय को भर लो और सर्वत्र फैल जाओ। काम करो, काम करो। नेतृत्व करते समय सबके दास हो जाओ; नि:स्वार्थ होओ और कभी एक मित्र को दूसरे के पीठ पीछे उसकी निन्दा करते मत सुनो। अनन्त धैर्य रखो। तभी सफलता तुम्हारे हाथ आएगी।[३१]

मेरे साहसी बच्चो, आगे बढ़ो – चाहे धन आये, या न आये, आदमी मिलें या न मिलें। क्या तुम्हारे पास प्रेम है? क्या तुम्हें ईश्वर पर भरोसा है? बस, आगे बढ़ो, तुम्हें कोई नहीं रोक सकेगा।[३२]

जल्दबाजी से कोई काम नहीं होगा। पवित्रता, धैर्य और अध्यवसाय – इन्हीं तीन गुणों से सफलता मिलती है; और सर्वोपरि है प्रेम। तुम्हारे सामने अनन्त समय है, अत: हड़बड़ी करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि तुम पवित्र और निष्कपट हो, तो सभी काम ठीक हो जाएँगे। हमें तुम्हारे जैसे हजारों की जरूरत है, जो समाज पर टूट पड़ें और जहाँ कहीं भी जायें, वहीं नये जीवन और नयी शक्ति का संचार कर दें।[३३]

समाचार-पत्रों की निन्दा और व्यर्थ बातों पर ध्यान मत दो। निष्कपट रहो और अपने कर्तव्य का पालन करो, बाकी सब ठीक हो जाएगा। सत्य की विजय अवश्यम्भावी है।[३४]

अपने तन, मन एवं वाणी को 'जगद्धिताय' अर्पित करो। तुमने पढ़ा है – **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव** – अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो, परन्तु मैं कहता हूँ – **दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव** – गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दु:खी – इन्हीं को अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही परम धर्म समझो।[३५]

शासक बनने की कोशिश मत करो – सबसे अच्छा शासक वह है, जो सबकी सेवा कर सकता है। मृत्युपर्यन्त सत्य-पथ से विचलित मत होना। हम काम चाहते हैं – धन, नाम और यश की हमें चाह नहीं है।[३६]

यदि तुम सचमुच मेरी सन्तान हो, तो तुम किसी चीज से नहीं डरोगे, किसी बात पर नहीं रुकोगे। तुम सिंहतुल्य होगे। हमें भारत और पूरे संसार को जगाना है। कायरता को पास न फटकने देना। मैं 'नहीं' नहीं सुनूँगा, समझे? मृत्यु-पर्यन्त सत्य-पथ पर अटल रहना होगा। ... इसका रहस्य है

गुरुभक्ति, मृत्युपर्यन्त गुरु में विश्वास।[३७]

यदि तुम शासन करना चाहते हो, तो दास बनो। यही सच्चा रहस्य है।[३८]

याद रखना – पुरुष तथा नारी – दोनों की ही आवश्यकता है। आत्मा में नारी-पुरुष का कोई भेद नहीं है। ... हजारों की संख्या में पुरुष तथा नारियाँ चाहिये, जो अग्नि की भाँति हिमालय से कन्याकुमारी तथा उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक पूरी दुनिया में फैल जाएँगे। वह बच्चों का खेल नहीं है और न उसके लिये समय ही है। जो बच्चों का खेल खेलना चाहते हैं, उन्हें अभी अलग हो जाना चाहिये, नहीं तो आगे उनके लिये बड़ी विपत्ति खड़ी हो जाएगी।[३९]

हममें से प्रत्येक दिन-रात भारत के उन करोड़ों पददलितों के लिये प्रार्थना करे; जो दारिद्र्य, पुरोहित-प्रपंच तथा बलवानों के अत्याचार से पीड़ित हैं। उनके लिये दिन-रात प्रार्थना करो। मैं धनवान और उच्च श्रेणी की अपेक्षा इन पीड़ितों को ही धर्म का उपदेश देना अधिक पसन्द करता हूँ। मैं न कोई तत्त्व-जिज्ञासु हूँ, न दार्शनिक और न सिद्ध पुरुष; मैं तो निर्धन हूँ और निर्धनों से प्रेम करता हूँ।[४०]

जब तक करोड़ों भूखे और अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं प्रत्येक उस व्यक्ति को विश्वासघाती समझूँगा, जो उनके खर्च पर शिक्षित हुआ है, परन्तु जो उन पर तनिक भी ध्यान नहीं देता! वे लोग जिन्होंने गरीबों को कुचलकर धन पैदा किया है और अब ठाट-बाट से अकड़कर चलते हैं; यदि वे उन बीस करोड़ देशवासियों के लिये कुछ नहीं करते, जो इस समय भूखे और असभ्य बने हुए हैं, तो वे घृणा के पात्र हैं।[४१]

प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक मुख्य प्रवाह रहता है। भारत में वह धर्म है। उसी को प्रबल बनाओ – बस, दोनों ओर के अन्य प्रवाह उसी के साथ चलेंगे।[४२]

सदा याद रखो कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति को भी अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी। दूसरों से सहायता की आशा न रखो।[४३]

मेरी सतत प्रार्थना है कि मेरे भीतर जो आग जल रही है, वही तुम्हारे भीतर जल उठे; तुम अत्यन्त निष्कपट बनो और संसार के रणक्षेत्र में तुम्हें वीरगति प्राप्त हो।[४४]

मैं ऐसा कोई मार्ग नहीं निकाल पाया, जिससे सबको प्रसन्न रख सकूँ। अत: मैं वही रहूँगा, जो स्वाभाविक रूप से हूँ – अपनी अन्तरात्मा के प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार। सौन्दर्य और यौवन का नाश हो जाता है; जीवन और धन का नाश हो जाता है; नाम और यश का भी नाश हो जाता है; पर्वत भी चूरचूर होकर मिट्टी हो जाते हैं; मित्रता और प्रेम भी नश्वर है – एकमात्र सत्य ही चिरस्थायी है।[४५]

शुरू में ही बड़ी-बड़ी योजनाएँ मत बनाओ, धीरे-धीरे कार्य आरम्भ करो – जिस जमीन पर तुम खड़े हो, उसे अच्छी तरह पकड़कर क्रमश: ऊँचाइयों को पाने की चेष्टा करो।[४६]

व्यक्ति को अपनी अन्त:प्रेरणा से कार्य करना चाहिये और यदि वह कार्य शुभ तथा हितकर है, तो समाज की भावना में परिवर्तन अवश्य होगा, ऐसा चाहे उसकी मृत्यु के शताब्दियों बाद ही क्यों न हो! हमें तन-मन से कार्य में लग जाना चाहिये। जब तक हम एक – केवल एक ही आदर्श के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार नहीं होंगे, तब तक हम कदापि आलोक नहीं देख सकेंगे।[४७]

संसार के इतिहास में क्या कभी धनवानों ने कुछ किया है? काम सर्वदा हृदय एवं बुद्धि से होता है, धन से नहीं।[४८]

जब-जब तुम्हें दुर्बलता का बोध हो; तब-तब समझो कि तुम न केवल स्वयं को, वरन् अपने उद्देश्य को भी हानि पहुँचा रहे हो। अनन्त श्रद्धा तथा शक्ति ही सफलता का मूल है।[४९]

चाहिये – पूर्ण सरलता, पवित्रता, विशाल बुद्धि और सर्वजयी इच्छाशक्ति। इन गुणों से सम्पन्न मुट्ठी भर लोग काम करें, तो सारी दुनिया उलट-पलट हो जाएगी।[५०]

सत्यमेव जयते नानृतम् – सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। जो लोग सोचते हैं कि मिथ्या का कुछ पुट रहे बिना सत्य का प्रचार सहज ही सम्भव नहीं होगा, वे भ्रान्त हैं। समय आने पर वे देखेंगे कि विष की एक बूँद भी सारे भोजन को विषाक्त कर देती है। ... जो पवित्र तथा साहसी है, वही जगत् में सब कुछ कर सकता है।[५१]

धर्म ही है भारत की वह जीवनी-शक्ति और जब तक हिन्दू लोग अपने पूर्वजों से प्राप्त उत्तराधिकार को नहीं भूलेंगे, तब तक संसार की कोई भी शक्ति उनका ध्वंस नहीं कर सकती।[५२]

❖ **(क्रमश:)** ❖

सन्दर्भ-सूची – **२७**. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड **२७.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३२; **२८.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३३; **२९.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३३; **३०**. वही, खण्ड ३, पृ. ३३४; **३१.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३५; **३२.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३५-३६; **३३.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३८; **३४.** वही, खण्ड ३, पृ. ३४२-४३; **३५.** वही, खण्ड ३, पृ. ३५७; **३६.** वही, खण्ड ३, पृ. ३४८; **३७.** वही, खण्ड ३, पृ. ३४९; **३८.** वही, खण्ड २, पृ. ३६०; **३९.** वही, खण्ड ३, पृ. ३०१; **४०.** वही, खण्ड ३, पृ. ३४५; **४१.** वही, खण्ड ३, पृ. ३४५; **४२.** वही, खण्ड ३, पृ. ३६५; **४३.** वही, खण्ड ३, पृ. ३७०; **४४.** वही, खण्ड ३, पृ. ३७१; **४५.** वही, खण्ड ३, पृ. ३७९; **४६.** वही, खण्ड ३, पृ. ३८६; **४७**. वही, खण्ड ३, पृ. ३८७; **४८.** वही, खण्ड ३, पृ. ३८७; **४९.** वही, खण्ड ३, पृ. ३९०; **५०.** वही, खण्ड ४, पृ. २७६; **५१.** वही, खण्ड ४, पृ. २७६; **५२.** वही, खण्ड ९, पृ. ३५३

नाम की महिमा (८/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

मारीच के सामने मृत्यु के दो रूप आते हैं। उसे लगा कि यदि मैं रावण की बात को अस्वीकार करूँगा, तो रावण मुझे मारेगा और यदि कपट-मृग बनकर जाऊँगा, तो श्रीराम मुझे मारेंगे। उसने दोनों प्रकार से अपनी मृत्यु निश्चित देखी –

उभय भाँति देखा निज मरना ।। ३/२६/५

मारीच ने सोचा – मेरे सामने मृत्यु के दो रूप हैं। इनमें से मैं किसका वरण करूँ? यही साधना का सूत्र है। मृत्यु तो सभी के लिए अवश्यम्भावी है। जो अन्तर्द्वन्द्व मारीच के जीवन में आया, वही हमारे आपके जीवन में भी है। परन्तु मृत्यु-मृत्यु में कोई भेद है क्या? मृत्यु में भी चुनाव करने का कोई अर्थ है क्या? यदि इसे साधना की दृष्टि से देखें, तो है, अवश्य है। रावण मूर्तिमान मोह है और भगवान राम अखण्ड ज्ञान हैं –

मोह दशमौलि ... ।। विनय-पत्रिका, ५८/४
ग्यान अखंड एक सीताबर ।। ६/६६/४

प्रश्न उठता है कि मृत्यु जब अवश्यम्भावी है, तो अन्तिम क्षण में हमारी वृत्ति मोहाकार हो या ज्ञानाकार। बस, इसका यही तात्पर्य है। महानतम ज्ञानी व्यक्ति का भी शरीर छूटेगा और मोहग्रस्त अज्ञानी का भी शरीर छूटता है, परन्तु दोनों में एक बहुत बड़ा भेद है। अन्तिम क्षण में, यह मृत्यु एक तरह से जीवन की परीक्षा है। जैसे साल भर पढ़ना, यह विद्यार्थी का धर्म और कर्तव्य है ही, परन्तु साल भर उसने जो कुछ पढ़ा है, उसकी सार्थकता तो वस्तुत: परीक्षा के समय ही सामने आती है। परीक्षा के समय यदि उसे अपना पढ़ा हुआ याद है, तो उसे परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रमाण-पत्र मिलेगा। परन्तु यदि परीक्षा के समय वह याद किए हुए पाठ को भूल गया, तो भले ही उसने बड़ा परिश्रम किया हो, उसे उत्तीर्ण होने का प्रमाण-पत्र नहीं मिलेगा।

इसी प्रकार जीवन की पाठशाला में हम जो कर्तव्य-कर्म और साधन कर रहे हैं, यह सब विद्यार्थी का अध्ययन और अध्ययन का परिश्रम है; परन्तु मृत्यु का क्षण ही हमारी परीक्षा है। इसीलिये इस अन्तिम क्षण को, मृत्यु के क्षण को बहुत महत्त्व दिया गया है। मृत्यु ही सबसे बड़ी परीक्षा है।

परीक्षा में पुराना पाठ कौन भूल जाता है? जिस छात्र के मन में परीक्षा का आतंक पैठ जाता है, हड़बड़ाहट या घबराहट उत्पन्न हो जाती है, तो यह स्वाभाविक है कि वह विद्यार्थी परीक्षा के समय याद किए हुए पाठ को भी भूल जाता है। ठीक इसी प्रकार, यह जीवन और मृत्यु है; जीवन व्यक्ति का अध्ययन है और मृत्यु उसकी परीक्षा है। मृत्यु की यह परीक्षा निश्चित है, अवश्यम्भावी है, इसे टाला नहीं जा सकता। हमें मारीच के समान निर्णय करना होगा कि हम मृत्यु का किस प्रकार वरण करेंगे – अपने मन को मोहाकार करके या रामाकार-ज्ञानाकार करके। यदि मन ने मृत्यु के समय मोह में डूबकर मोहाकार आकृति धारण कर ली, अर्थात् यदि मोहाकार वृत्ति के साथ शरीर का परित्याग हुआ, तो मन उसी के अनुसार आकृति ग्रहण करेगा। जैसे कोई धातु हो और वह पिघल जाय, तो इसके बाद उसकी कौन-सी आकृति बनेगी? – उसे जैसे साँचे में डाला जायेगा, वैसी ही आकृति बनेगी। यदि आपने सोने को पिघलाया और आप निर्णय कर चुके हैं कि उसे कोई आकृति देनी है, तो सोने को आप जैसे साँचे में डालेंगे, उसकी वही आकृति बन जायगी।

मृत्यु में आँच तो है ही; और यह आँच ही मानो मन को पिघलाती है। बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है कि मृत्यु के क्षण में, जब मृत्यु की आँच से मन पिघले, तो स्वयं निर्णय कर ले कि हम अपने मन को कौन-सी आकृति देंगे। यदि मन पिघलकर रामाकार बन गया, तो इसके परिणाम से मन राम के रूप में परिणत हो जायेगा। परन्तु यदि उस पिघले हुए मन को किसी मोह के साँचे में डाल दिया गया, तो उसकी गति बिलकुल भिन्न होगी। धातु का पिघलना एक ही जैसा है, पर आकृति साँचे के अनुसार होगी। मृत्यु के समय हमारे अन्त:करण में जैसा चिन्तन होगा, वैसी ही हमारे मन की आकृति होगी, वैसी ही हमारी गति होगी। 'मानस' में जीवन और मृत्यु – दोनों पक्षों की सार्थकता बतायी गयी है। इस पर बड़े विस्तार से विचार किया गया है और अनेक सूत्र दिये गये हैं। यह नहीं है कि दोनों में से कोई कम है।

जीवन बड़े महत्त्व की वस्तु है। जीवन का जो पक्ष है, वह आपको कागभुशुण्डिजी के जीवन में मिलेगा और मृत्यु का पक्ष आपको गीध, बालि या मारीच के प्रसंग में मिलेगा।

जीवन और मृत्यु – दोनों में सार्थकता है और इन्हीं में से हमें चुनना है। क्या जीवित रहना उपयुक्त है? क्या जीवन की कोई सार्थकता है। गरुड़जी ने कागभुशुण्डि से पूछा – आपने शरीर का त्याग क्यों नहीं किया? उन्होंने सूत्र दिया – शरीर के द्वारा साधन होते हैं, सेवा होती है, भजन होता है। शरीर इतना उपयोगी है, अत: मैं चाहता हूँ कि यह बना रहे और मैं इसके द्वारा सेवा-भजन-कथा-चिन्तन-ध्यान करता रहूँ –

तजउँ न तन निज इच्छा मरना ।
तन बिनु बेद भजन नहिं बरना ।। ७/९५/५

कागभुशुण्डिजी ने जीवन की सार्थकता बताई। पर सभी कागभुशुण्डि नहीं हो सकते। यह नियम नहीं, अपवाद है। उनमें जीवन की सार्थकता है, उनमें इतनी क्षमता है और प्रभु की कृपा से, वे नियम से अलग हैं। पर रामायण में दूसरा पक्ष भी है। परन्तु जब हम उपाख्यानों में कागभुशुण्डिजी की कथा पढ़ते हैं, तो वही पक्ष चुनते हैं, कागभुशुण्डि ही बनने का मन होता है, भले ही भजन करने का मन न हो। वे तो भजन करने के लिए जीवित रहना चाहते थे, पर लोग सोचते हैं कि अगर वे सत्ताइस कल्प तक जीवित रहे, तो हम कम-से-कम एक कल्प या लाख दो लाख वर्ष तो जी लें।

परन्तु मृत्यु भी बड़ी सार्थक है? जीवन की सार्थकता तो केवल कागभुशुण्डि के जीवन में है, परन्तु गीधराज, बालि, और मारीच – ये तीन पात्र ऐसे हैं, जिनके चरित्र के द्वारा मृत्यु की सार्थकता की ओर संकेत किया गया है। गीधराज के सामने भी भगवान खड़े हैं और अनुरोध करते हैं कि आप जीवित रहिए। पर गीधराज कहते हैं – प्रभो, मुझे लगता है कि यदि इस समय चूक गया, तो फिर बड़े घाटे में रहूँगा –

मेरे मरिबे सम न चारिफल होइ तो क्यों न कहीजै ।

गीधराज ने पूछा – अच्छा, अभी मृत्यु नहीं होगी, तो कभी होगी या नहीं? प्रभु बोले – कभी-न-कभी तो होगी ही। तो कहने लगे – महाराज, वेद कहते हैं कि मरते समय जिनका नाम मुख में आ जाने से महा पापी भी मुक्त हो जाता है, वे ही मेरे नेत्रों के विषय होकर सामने खड़े हैं। अब मैं किस उद्देश्य की पूर्ति हेतु शरीर को रखूँ? –

जाकर नाम मरत मुख आवा ।
अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ।।
सो मम लोचन गोचर आगें ।
राखौं देह नाथ केहि खाँगें ।। ३/३०/६-७

जप क्यों किया जाता है? इसलिये कि मन और जिह्वा से निरन्तर जप करने का ऐसा अभ्यास हो जाय कि जप सहज भाव से, बिना प्रयत्न के भी होने लगे। शुरू तो होगा प्रयत्न से और करते-करते वह सहज अभ्यास की वस्तु बन जाती है। इसकी सबसे अधिक बड़ी परीक्षा मृत्यु के समय होती है। इसीलिए शास्त्रों में अन्तिम क्षण में भगवन्नाम के स्मरण को बड़ा महत्त्व दिया गया है। जटायुजी ने कहा – महाराज, नाम इसलिये लिया जाता है कि वह अन्तिम समय में निकले और हम जिसका नाम लेकर पुकारें, यदि वह आ जाय, तो इससे बढ़कर नाम-जप की सफलता और क्या होगी?'' वे बोले – प्रभो, मैं तो बड़ा सौभाग्यशाली हूँ। – कैसे? – वैसे तो यह सीखनेवाली बात नहीं है। पर कुछ ऐसे भी विद्यार्थी होते हैं, जो पढ़ते तो कम हैं, लेकिन अन्त में पास हो जाते हैं। गीधराज ने कहा – मैंने नाम-जप का अभ्यास तो नहीं किया, पर मैं बड़ा सौभाग्यशाली हूँ कि नामी स्वयं आ गया। महाराज, जब नामी आ गया, तो मैं आपकी गोद में, आपका दर्शन करते हुए इस शरीर का परित्याग कर दूँ। इतना बूढ़ा यह शरीर और इसके द्वारा कितना और कैसे मांसाहार किया गया है ! यह सब होते हुए भी आज जब आपका दर्शन हो रहा है और मैं आपके धाम में जा रहा हूँ, तो आप मुझसे कहते हैं कि मुझे जीवन का लोभ करना चाहिए?'' भगवान चुप रह गये। उन्होंने स्वीकार कर लिया – नहीं नहीं, आपने मृत्यु को इतना आनन्द से स्वीकार करना सीखा है, इस विषय में मैं आपको अब जीवित रहने के लिए कैसे कहूँ?

तुलसिदास प्रभु रहे मौन, गहि परिजन प्रेमु सहीजै ।।

फिर बालि के प्रसंग में – प्रभु ने पहले उस पर प्रहार किया और बाद में सामने आए और उससे जीवित रहने का अनुरोध किया। बालि बड़ा चतुर विद्यार्थी निकला। सुग्रीव और बालि में बहुत अन्तर है। सुग्रीव सीढ़ी से चढ़ने वाला साधक है और बालि वह छलाँग लगाने वाला साधक है। अपनी-अपनी योग्यता होती है। सुग्रीव क्रम से चलनेवाले हैं। उन्होंने भी प्रभु से छलाँग लगाने की बात कही –

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँति ।
सब तजि भजनु करौं दिन राती ।।
सुख संपति परिवार बड़ाई ।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ।। ४/७/२१, १७

प्रभु समझ गये कि छलाँग तो ऊँची लग रही है, पर इतनी ऊँची छलाँग इस बन्दर के बस की बात नहीं है। इसीलिए उसकी वैराग्ययुक्त वाणी सुनकर प्रभु मुस्कुराने लगे –

सुनि बिराग संजुत कपि बानी ।। ४/७/२२

हाँ, बन्दर छलाँग तो लगा रहा है, परन्तु यह वैराग्य टिकेगा क्या? इसलिए नहीं माना। बोले – छलाँग-वलाँग मत लगाना। उसे सीढ़ियों से चलाया – ऐसा-ऐसा करो, बालि का वध होगा, राज्य करो, सीताजी का पता लगाओ – यही साधना का क्रम है। पर बालि तो छलाँगवाला था, अन्त में मृत्यु के समय ऐसी लम्बी छलाँग लगा दी कि धन्य हो गया। भगवान स्वयं उसके सिर पर हाथ रखकर कह रहे हैं – तुम जीवित रहो। इस पर बालि ने भी वही बात दुहराई –

महाराज, जीवन भर अभ्यास करने के बाद भी आपका नाम बहुधा मुँह से नहीं निकलता और आप मेरे सामने खड़े हैं –

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं ।
अंत राम कहि आवत नाहीं ।।
मम लोचन गोचर सोई आवा ।। ४/१०/३, ५

भगवान बोले – भाई, जीवित रहकर भी तो मेरी सेवा कर सकते हो। परन्तु वह बड़ा चतुर निकला। कहावत है – दोनों हाथ में लड्डू। बालि के दोनों हाथों में लड्डू है। उसने कहा – महाराज, एक रूप में जीवित रहकर मैं आपकी सेवा करूँ और एक रूप में मरकर आपके धाम जाऊँ। भक्ति के द्वारा सेवा करूँगा और ज्ञान के द्वारा मुक्ति पाऊँगा। इस हेतु उसने अपने बेटे अंगद को बुला लिया। पुत्र के रूप में उसने मानो अपना प्रतिरूप ही प्रस्तुत कर दिया। जब उसका शरीर नहीं रहेगा, तो वही पुत्र के रूप में सक्रिय होकर कार्य करेगा। कहा है – **आत्मा वै जायते पुत्रः**। उसने तुरन्त अंगद को बुलाया और उसे प्रभु के समक्ष खड़ा करके बोला – विनय और बल में मेरे ही समान मेरे इस पुत्र को स्वीकार कीजिए और बाँह पकड़कर इसे अपना दास बनाइए –

यह तनय मम सम बिनय बल
कल्यानप्रद प्रभु लीजिये ।
गहि बाँह सुर नर नाह
आपन दास अंगद कीजिये ।। ४/१०/छंद

'तनय' शब्द का प्रयोग बड़ा चुनकर किया। तनय अर्थात् इसका जन्म मेरे शरीर से हुआ है। बोला – मैं तो शरीर और आत्मा – दोनों का सदुपयोग करूँगा। शरीर का सदुपयोग क्या है? – प्रभो, कृपा करके मेरे पुत्र अंगद के बाँह को पकड़ लीजिए और इसको अपना दास बना लीजिए। प्रभु बोले – परम्परा तो यह है कि पुत्र को बुलाकर कहा जाता है कि इनके चरण पकड़ो, प्रणाम करो। इस तरह उसे प्रणाम करना सिखाया जाता है। लेकिन तुम तो मुझी से कह रहे हो कि इसका बाँह पकड़ लीजिये। बालि ने कहा – महाराज, जीव आपको पकड़ेगा, तो न जाने कब छोड़ दे, पर आप पकड़ लेंगे, तो छूटने का डर नहीं रहेगा। इसलिए यह भार मैं अंगद को नहीं देता। एक भक्ति है, जिसमें ईश्वर को पकड़ा जाता है, परन्तु मैं अपने पुत्र को ऐसी भक्ति का सुख देना चाहता हूँ, जिसमें ईश्वर ही व्यक्ति को पकड़ लेता है। तो महाराज, मैं यही चाहूँगा कि आप निरन्तर अंगद को पकड़े रहें और उसे अपना दास बनाकर सेवा का सौभाग्य दें, बस मेरे शरीर का सदुपयोग हो गया।

इसके बाद बाप-बेटे – दोनों ने क्या सुन्दर चुनाव किया! पुत्र की भुजा को भगवान ने पकड़ लिया और पिता ने अंगद से कहा – बस, इसी तरह प्रभु पकड़े रहें, अब निश्चित रूप से जान लो कि प्रभु की भुजाएँ तुम्हारी हो गईं। फिर अपने लिए चुन लिया प्रभु के चरण और उनके चरणों का स्मरण करते हुए उसने बड़ी सहजता से देहत्याग कर दिया –

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग ।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग ।। ४/१०

यहाँ सूत्र क्या है? व्यक्ति के सामने दो समस्याएँ हैं – ममता और अहंता। बेटे में ममता होती है और स्वयं में अहंता होती है। अंगद को सौंप देने का अर्थ है अपनी ममता को प्रभु के हाथों में सौंप देना। और भगवान के चरणों का स्मरण करते हुए देहत्याग का अर्थ अपने अहं को प्रभु के चरणों में अर्पित कर देना। यहाँ ईश्वर के दिए गये जीवन के प्रलोभन को भी अस्वीकार करके मृत्यु का वरण किया गया। गीधराज और बालि – दोनों प्रसंगों में ऐसी दिव्य मृत्यु को प्राप्त करके मृत्यु की सार्थकता प्रकट की गयी है।

परन्तु मारीच के सामने इस प्रकार के दो विकल्प नहीं हैं। मारीच के लिए – जीवन और मृत्यु में से किसी का चुनाव करने का मार्ग खुला हुआ नहीं है। उसके सामने तो केवल मृत्यु है। मारीच हम लोगों के अति निकट है, क्योंकि हम लोग जीवन और मृत्यु को स्वेच्छा से वरण करने की स्वतंत्रता नहीं पा सकते। परन्तु मृत्यु का कैसे वरण करें, इसका हम चुनाव कर सकते हैं। मारीच ने निर्णय लिया – मैं मोह के वशीभूत होकर उसी के हाथों मारा जाऊँ, इसके स्थान पर भगवान के बाण से मरने में ही मृत्यु की सार्थकता है। ऐसी बात रामायण में सर्वत्र आती है।

जब हनुमानजी औषधि लेने जा रहे थे, तो रावण कालनेमि के पास आता है और उससे कहता है कि तुम कपट करो। रावण का सबसे प्रिय अस्त्र यही है, वह सबको यही सिखाता है – तुम नकली वेश बना लो, साधु का वेश बना लो, सोने के मृग का वेश बना लो। कालनेमि ने समझाया – जानते हो कि जो जा रहे हैं, वे कौन हैं? रावण बोला – मैं तुम्हें मार डालूँगा। उसने भी निर्णय किया – जब मृत्यु निश्चित है, तो यदि रावण के हाथों उसी का चिन्तन करते हुए मरेंगे, तो रावणाकार वृत्ति हो जायेगी। परन्तु यदि हनुमानजी के हाथों से मरेंगे, तो हमारे मन की आकृति वैराग्याकार – विश्वासाकार हो जायेगी, भगवान की स्मृति से जुड़ जायेगी –

राम दूत कर मरौं बरु ... ।। ६/५६

रामायण में सांकेतिक रूप से दोनों बातें कही गई है – जब लंका का युद्ध समाप्त हो गया तो इन्द्र ने आकर भगवान से कहा कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ? प्रभु बोले – इन बन्दरों ने मेरे कार्य हेतु शरीर का परित्याग किया है; तुम अमृत-वर्षा करके इनको जीवित करो –

मम हित लागि तजे इन्ह प्राना ।
सकल जिआउ सुरेस सुजाना ।। ६/११४/८

जब अमृत-वर्षा हुई, तो उससे सारे बन्दर जीवित हो गये। इस पर पार्वतीजी ने भगवान शंकर से कहा – महाराज, जहाँ बन्दर मरे हुए पड़े थे, वहाँ राक्षस भी तो मरे हुए पड़े थे; तो अमृत-वर्षा से बन्दर तो जीवित हो गये, पर राक्षस नहीं हुए, इसका क्या अर्थ है? शिवजी ने जो उत्तर दिया, वह इसी ओर संकेत करता है। उन्होंने कहा – राक्षसों के मन तो मरते समय रामाकार हो गए थे, अत: वे मुक्त हो गए, परन्तु वानर-भालू तो सब देवताओं के अंश थे, अत: वे सब रघुनाथजी की इच्छा से जीवित हो गए –

सुर अंसिक सब कपि अरु रीछा।
जिए सकल रघुपति कीं ईछा ।। ६/११४/८

राक्षस दुर्गुणों के प्रतीक हैं, तो देवता सद्गुणों के; और मनुष्य दोनों से मिलकर बना है। वैसे तो देवता और राक्षस अलग-अलग दिखाई देते हैं, पर हमारे जीवन में देवत्व तथा राक्षसत्व – दोनों एक साथ दिखाई देते हैं। तो राक्षसत्व का भी कोई सदुपयोग हो सकता है क्या? देवत्व का सदुपयोग तो है ही – देवताओं के अंश से उत्पन्न बन्दरों ने भगवान की सेवा की। राक्षसों ने सेवा नहीं की और बन्दरों की तरह वे अपने शरीर का सदुपयोग नहीं कर सके। जिन्होंने सद्गुणों को सेवा में लगाया, वे भगवान की कृपा से अमृत पाकर जीवित हो गये, क्योंकि जीवित रहकर सेवा करें, यही जीवन की सार्थकता है। पर विकारों की बात अलग है। एक बात आपने देखी होगी – कभी-कभी विकार में जितनी तन्मयता होती है, काम की वृत्ति में जो तीव्र आवेश होता है, क्रोध में जो तीव्र आवेश होता है, आसक्ति में जो तीव्र चिन्तन होता है, वह कभी-कभी उससे कहीं अधिक गाढ़ा होता है, जो सद्वृत्तियों के द्वारा बुद्धिपूर्वक चिन्तन से होता है।

जब कोई दुर्वृत्ति सहज रूप में आती है, तो चित्त उसके साथ इतना तदाकार हो जाता है कि उसमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यह हमारे जीवन की विडम्बना है कि हमें अपने प्रिय -जनों का ध्यान करना पड़ता है। जहाँ राग हो या द्वेष हो, वहाँ मनोवृत्तियों की तन्मयता की पराकाष्ठा दीख पड़ती है। भगवान ने राक्षसी वृत्तियों का भी सदुपयोग किया। राक्षसों के मन में भगवान के प्रति शत्रुता की इतनी तीव्र भावना थी कि उस द्वेष के कारण वे भगवान का निरन्तर चिन्तन करते रहे और उनका मन भगवान में विलीन हो गया था, अत: वे मुक्त हो गए, उनके भव-बन्धन छूट गये थे –

बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर ।। ६/४५/४
रामाकार भए तिन्ह के मन।
मुक्त भए छूटे भव बंधन ।। ६/११४/७

राक्षस मुक्त हो गये और बन्दर जीवित हो गये। दोनों की सार्थकता है। यदि हमारे विकार भी तन्मयता की सृष्टि कर सकें और यदि उसे किसी प्रकार भगवान की ओर मोड़ा जा सके, तो हमारा अन्त:करण भगवदाकार हो जायेगा। इसीलिए गोस्वामीजी माँगते हैं – आप मुझे प्रेम दीजिए। भगवान ने पूछा – भरतजी जैसा, लक्ष्मणजी जैसा या हनुमानजी जैसा? बोले – बिलकुल नहीं, मुझमें न तो भरतजी जैसा गुण है, न लक्ष्मणजी या हनुमानजी जैसा। – तो? बोले – जैसे कामी को स्त्री प्रिय लगती है और जैसे लोभी को धन प्यारा लगता है, वैसे ही आप भी मुझे निरन्तर प्रिय लगते रहिये –

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।।७/१३०ख

कामी में जो तन्मयता होती है, उसकी तुलना नहीं हो सकती। लोभी में उससे भी अधिक तन्मयता होती है। काम तो कुछ क्षण के लिए ही आता है, पर लोभी तो दिन-रात लोभ के चिन्तन तथा उसी की सम्पूर्ति में संलग्न रहता है।

भरतजी भगवान राम से कैसा प्रेम करते हैं, इस विषय में भरद्वाज मुनि ने कहा – जैसे ये विषयासक्त जड़ नर संसार का चिन्तन करते हैं, वैसे ही श्रीराम तुम्हारा चिन्तन करते हैं –

तुम्ह पर अस सनेहु रघुबर कें।
सुख जीवन जग जस जड़ नर कें ।। २/२०७/६

लक्ष्मणजी जो भगवान राम की सेवा करते हैं, उसकी क्या उपमा दी गई? – जैसे अज्ञानी व्यक्ति शरीर की सेवा करता है, वैसे ही लक्ष्मण भगवान राम की सेवा करते हैं –

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि ।। २/१४१/२

चाहे शत्रुभाव से ही सही, चिन्तन की पराकाष्ठा के कारण राक्षस मुक्त हो गये। दोनों की सार्थकता है। बन्दरों के रूप में भक्ति की प्राप्ति और राक्षसों के रूप में मुक्ति की प्राप्ति। इसका परिणाम? यदि राक्षस जीवित रहे, तो अपने लिए भी दुखदाई रहेंगे और दूसरे के लिए भी। जब रावण यज्ञ करने चला, तो विभीषणजी ने प्रभु को सूचना दी – महाराज, रावण एक यज्ञ कर रहा है। – उससे क्या होगा? बोले – वह यज्ञ पूरा होने पर वह अभागा मरेगा ही नहीं –

सिद्ध भएँ नहिं मरिहि अभागा ।। ६/८४/२

भगवान ने कहा – तुम्हारा यह वाक्य तो युक्तिसंगत नहीं है। जब तुम कह रहे हो – नहीं मरेगा, तो भाग्यवान कहना चाहिए या अभागा? विभीषणजी बोले – रावण जैसे व्यक्ति का मर जाना उसके लिए भी अच्छा है और दूसरों के लिए भी। मर जायेगा, तो संसार को कष्ट नहीं देगा, और स्वयं भी आप में लीन होकर कष्ट से मुक्त हो जायेगा। परन्तु जीवित रहेगा, तो आपसे भी दूर रहेगा और संसार को भी कष्ट देगा। ऐसी स्थिति में, न मरने पर उसे अभागा ही तो कहा जायेगा।

इसीलिए गोस्वामीजी एक दिन भगवान से बोले – प्रभो, मैं चाहता हूँ कि मुझे आपसे प्रेम हो जाय। भगवान ने कहा

– यदि वह न हो सके तो? तो बोले – फिर ऐसा कीजिए कि बिगड़ जाय; और बिगड़ना ही है, तो महाराज ऐसा बिगड़े कि – एक शब्द जोड़ दिया 'भरपूर' – बिगड़े तो फिर भरपूर बिगड़े, बिगड़ने में कोई कसर न रह जाय –

बनै तो रघुबर सो बनै, कै बिगरै भरपूर ।।

– अरे भाई, तुम मुझसे बिगाड़ना क्यों चाहते हो? बोले – महाराज, आपसे बनाने में लाभ है और बिगाड़ने में भी लाभ है। संसार वालों से बनाने में लाभ भले ही लगता हो, पर अन्त में वह किसी-न-किसी ममता या राग में परिणत हो जायेगा। एक दोहा गोस्वामीजी के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें व्यंग्य में कहा गया कि रावण से खीझ गये, तो उसको मुक्ति दे दी और विभीषण पर रीझ गये तो, उन्हें लंका दे दिया –

खीझे पै मुकती दई रीझै दीन्ही लंक ।
अंधाधुंध दरबार है, तुलसी भजो निसंक ।।

अत: उनसे व्यवहार करने में घाटा है ही नहीं – ठीक हुआ तो भी ठीक; नहीं हुआ तो भी ठीक।

मारीच के सामने यही प्रश्न है कि किस मृत्यु का वरण करें? बड़े महत्त्व का सूत्र है। उसने निर्णय किया – अरे, हम रावण की आकृति को ग्रहण करके क्यों मरें? हम मृत्यु का वरण करेंगे अवश्य, परन्तु किस मृत्यु का वरण करेंगे – उसने श्रीराम की शरण जाने में ही अपना हित समझा –

उभय भाँति देखा निज मरना ।
तब ताकिसि रघुनायक सरना ।। ३/२६/५

रावण सामने बैठा हुआ है, मारीच की उससे बातचीत हो रही थी, पर इसी बीच उसने मृत्यु का वरण करने का निश्चय कर लिया। शरीर से तो मारीच रावण के सामने बैठा है, पर मन से चला गया – भगवान की शरण में। मन की यही शैली है। उसने ज्योंही भगवान की शरण ली, त्योंही मृत्यु की कल्पना से इतना प्रसन्न हुआ कि जब वह चला, तो इतने आनन्द से भर गया कि चिन्ता होने लगी कि कहीं मेरे आनन्द को देखकर रावण यह न सोच बैठे कि मृत्यु की कल्पना से तो कोई इतना प्रसन्न नहीं होता, यह इतना प्रसन्न होकर जा रहा है, तो कोई षड्यंत्र तो नहीं है कि वहाँ जाकर राम से मिल जाय। इसलिए रावण मेरी प्रसन्नता को न जान सके –

मन अति हरष जनाव न तेही ।
आजु देखिहउँ परम सनेही ।। ३/२६/८

उस समय मृत्यु उसे इतनी प्यारी लग रही थी कि उसमें जीवित रहने की कोई आकांक्षा नहीं है। भक्तों ने कहा है –

जो मरने से जग डरै, सो मेरे आनन्द ।
कब मरिहौं कब पाइहौं पूरन परमानन्द ।।

बड़े महत्त्व का सूत्र है। मारीच वह मन है, जिसने अन्त में भगवान की शरणागति ग्रहण की। इसके बाद सब कुछ बदल गया है। मारीच सचमुच कपट-मृग बन गया। कपट-मृग बना हुआ मारीच इतना प्रसन्न होकर क्यों जा रहा है? – देखने की दृष्टि बदल गई। एक प्रश्न उठता है कि जो कुछ होता है, वह ईश्वर की प्रेरणा से होता है, या हमारे मन के दोषों की प्रेरणा से? गीता में भी दोनों प्रकार की बात है – व्यक्ति जो बुराई करता है, इसके मूल में काम की प्रेरणा है –

काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः ।। ३/३७

दूसरी ओर यह भी कहा गया कि ईश्वर सबके हृदय में रहकर सबको नचा रहा है, यंत्रवत् सब वही करा रहा है –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ।।१८/६१

ईश्वर करा रहा है या हमारे मन का दोष करा रहा है? दोनों सूत्र परस्पर विरोधी लगते हैं। परन्तु इन दोनों का सामंजस्य नारद के जीवन में मिलता है। यह कक्षा वाली बात है।

शंकरजी कथा सुना रहे थे – एक बार नारदजी ने भगवान को शाप दिया, इस कारण एक कल्प में उनका अवतार हुआ। यह सुनकर पार्वतीजी बड़ी चकित हुईं, उन्होंने पूछा – महाराज, हमारे गुरुदेव नारदजी तो विष्णुभक्त और ज्ञानी हैं, उन्हें क्रोध आ गया? भगवान ने उनका क्या अपराध किया था? मुनि नारद के मन में मोह आना तो बड़े आश्चर्य की बात है –

नारद श्राप दीन्ह एक बारा ।
कलप एक तेहि लगि अवतारा ।। १/१२४/५
कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा ।
का अपराध रमापति कीन्हा ।। ...
मुनि मन मोह आचरज भारी ।। १/१२४/६-७

बड़ी विलक्षण बात है। वस्तुत: नारदजी का पतन इसीलिए हुआ कि उन्होंने शंकरजी की बात नहीं मानी। जब वे काम को जीतकर शंकरजी के पास आए और अपनी काम-विजय की गाथा उन्हें सुनाई, तो शंकरजी ने उन्हें सावधान किया – मैं तुमसे बार-बार विनती करता हूँ कि जिस तरह तुमने यह कथा मुझे सुनाई है, उस तरह भगवान को कभी न सुनाना –

बार बार बिनवउँ मुनि तोही ।
जिमि यह कथा सुनायहु मोही ।।
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ ।।१/१२७/७-८

यदि नारद शंकरजी की बात मान गये होते, तो उनकी दुर्दशा नहीं हुई होती। पार्वतीजी पूछ रही हैं – हमारे गुरुजी की ऐसी दशा क्यों हुई? हम लोग होते तो जरूर कह देते – हमारी बात नहीं मानी, इसीलिए यह फल भोगना पड़ा। हुआ तो सचमुच यही था, लेकिन धन्य हैं शंकरजी।

लोगों का अभ्यास है। कोई बात हो जाय, तो अपने को जोड़े बिना नहीं रहते – मैं तो पहले से जानता था, पहले ही कहा था, मेरी बात न मानने से हुआ। यह हमारी प्रकृति है। कभी-कभी जो नहीं कहे रहते, उसे भी कह देते हैं। लंकावाले यही करते हैं। जब हनुमानजी ने लंका में आग लगा दी और

सारी लंका जलने लगी, तो सारे राक्षस कहने लगे – हम तो पहले ही कह रहे थे कि यह बन्दर नहीं कोई देवता है –

हम जो कहा यह कपि नहिं होई ।। ५/२६/४

कब कहा भाई? किससे कहा? हनुमानजी को तो लात मार रहे थे, प्रहार कर रहे थे, परन्तु अब कह रहे हैं – हमने तो पहले ही कहा था। यह लंकावालों की प्रकृति है। ऐसा नहीं बोलना चाहिए, सावधान रहना चाहिए। और झूठ बोलना भी बहुत बड़ा अनर्थ है, यह लंकावाले करते हैं।

लेकिन धन्य है शंकरजी की दृष्टि! एक ओर तो नारद को रोकते हैं, ऐसा मत कीजिए। पर पार्वतीजी पूछती हैं, तो बड़े जोर हँसने लगे। बोले – तुम इतनी चिन्ता कर रही हो कि क्या हो गया? यदि उनको क्रोध आ गया और उन्होंने शाप दे दिया, तो भी इसमें कौन-सी बड़ी बात है? अब शंकरजी बिलकुल दूसरी बात कह रहे हैं, वही गीता वाली बात – देखो, न कोई ज्ञानी है और न मूर्ख। भगवान जब जिसको जैसा करते हैं, वह उसी क्षण वैसा ही हो जाता है –

बोले बिहसि महेस तब
ग्यानी मूढ़ न कोइ ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब
सो तस तेहि छन होइ ।। १/१२४(क)

मारीच ने जो कुछ किया, वह उसने रावण की इच्छा से किया या भगवान की इच्छा से? बड़ा जटिल सूत्र है। एक स्तर पर जब तक उसे रावण की इच्छा लगी, तब तक वह दुखी था, पर ज्योंही वह मन से भगवान की शरण में गया, त्योंही दृष्टि बदल गयी, सब कुछ दिखाई देने लगा। वह अति प्रसन्न हो गया। जब वह मन से भगवान की शरण में गया, तो मन से ईश्वर के पास पहुँच गया और मन-ही-मन बोला – "प्रभो, मैं क्या करूँ? मैं तो छल-कपट नहीं करना चाहता, पर रावण छल-कपट करके सीताजी का हरण करना चाहता है। मैं रावण को मिटाने में सक्षम नहीं हूँ। मोह पर विजय पाने में सक्षम नहीं हूँ। मैं क्या करूँ?" प्रभु ने मारीच के कान में ऐसा मंत्र डाल दिया कि उसके आनन्द की सीमा न रही। प्रभु ने हँसकर कहा – "भाई, इस समय संयोग ऐसा है कि रावण का और मेरा – दोनों का संकल्प एक ही है। रावण हरण करना चाहता है और मैं हरण कराना चाहता हूँ। यदि रावण के कहने से बनोगे, तो दु:ख पाओगे और जब मेरे संकल्प को जान लिया, तो मेरे यंत्र बन जाओ।"

यही शरणागति का अद्‌भुत तत्त्व है – जब हमारा मन असमर्थ होता है, तो एक स्तर पर सचमुच ऐसी अनुभूति होती है। साधन काल में हमें यही मानकर चलना चाहिए कि हमारे जीवन में जो दुर्गुण हैं, उसके मूल में हमारी काम, क्रोध या मोह की वृत्ति है। पर अन्तिम परिणति तब होती है, जब भगवान के प्रति समग्र समर्पण होने के बाद सर्वत्र एक ही सूत्र दिखाई देने लगता है।

गोस्वामीजी भगवान से कहने लगे – महाराज, काम-क्रोध और लोभ – ये चोर चोरी किए जा रहे हैं। भगवान ने कहा – तुम चोरों को रोको, उनसे लड़ो, मुझसे क्यों कहते हो? गोस्वामीजी एक विचित्र मंत्र दे देते हैं, जो बहुत बाद में समझ में आता है। उन्होंने कहा – महाराज, मैं तो आपसे ही कहूँगा। – क्यों? बोले – महाराज, पता चल गया है कि चोर और पहरेदार, दोनों आपके ही हैं –

समाचार साथ के अनान नाथ कासो कहौं
नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरु ।। वि. २५०/३

एक मंच का सत्य है और एक परदे के पीछे का सत्य है। दोनों में बड़ी सावधानी की अपेक्षा है। जब नाटक देखिए तो मंच के सत्य को देखिए और जब परदा गिर जाय, तो परदे के पीछे के सत्य को देखिए। नाटक देखते समय यदि आप परदे के पीछे का सत्य देखेंगे, तो आप नाटक के लाभ से वंचित रह जायेंगे। यदि अभिनेता मंच पर आकर अभिनय करने लगे और आप बगलवाले से कहें कि ये अमुक हैं, ये हमारे परिचित हैं, ये दर्जी हैं, ये दुकानदार हैं, कैसा अच्छा अभिनय कर रहे हैं! परिणाम क्या होगा? मैं एक जगह गया था। वहाँ एक बड़े पढ़े-लिखे सज्जन ने मुझसे जब ऐसी बात कही, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ था। एक बड़ा विश्वविद्यालय जैसा है, जहाँ लड़कियों ने मीरा के जीवन पर आधारित एक नृत्य-नाटिका प्रस्तुत किया था। उन्होंने विडियो से वह नृत्य-नाटिका मुझे दिखाई। मैं देख रहा था। मीरा जब भावविभोर होकर पद गाते हुए नृत्य करने लगी, तो मैं मीरा के भाव में डूब गया। वे सज्जन – वहाँ के निदेशक बगल में बैठे हुए थे। वे बोल उठे – यह जो मीरा बनी है न, वह मेरे चपरासी की लड़की है। मैंने सिर पीट लिया। क्या इसी समय यह बताना था। वे बताना चाहते थे कि हमारे विद्यालय ने कितनी उन्नति कर ली है कि चपरासी की लड़की मीरा बन गई। पर आप सोचिए कि नाटक देखते समय चपरासी की लड़की की याद करने की क्या जरूरत थी? फिर जब नाटक समाप्त हो जाय और वह लड़की कहीं सड़क पर दिखाई दे और आप उसे मीरा समझकर साष्टांग प्रणाम करें, तो भी बुद्धिमानी की बात नहीं है। तात्पर्य यह कि नाटक का सत्य अपने स्थान पर है, देखते समय उससे आनन्द और प्रेरणा लेनी चाहिए। परन्तु परदे के पीछे का भी एक सत्य है।

मारीच को शरणागति के द्वारा यही ज्ञात होता है। मंच का सत्य था रावण और अन्तरंग में पैठकर उसे पता चलता है कि हमारा मूल प्रेरक तो ईश्वर है। यह मनरूपी मारीच जब भगवान के सामने शरणागत हो जाता है और निवेदन करता है – प्रभो, मैं शरणागत हूँ, आप मुझसे जो कार्य लेना चाहें

(शेष अगले पृष्ठ पर)

आत्माराम के संस्मरण (२६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

धारचूला का अनुभव

वहाँ तपोवन-आश्रम के नीचे ही काली नदी बहती थी, पानी खूब ठण्डा रहता था। एक दिन संन्यासी ने देखा कि कई बड़े-बड़े पत्थरों के नीचे एक चट्टान है। उसके बगल से चमकीले पीले रंग के पानी की धार निकल रही थी, परन्तु स्रोत नहीं दिख रहा था। उस चट्टान के नीचे की ओर नदी का बालू था – स्वच्छ बालू, परन्तु गीला-गीला रहता था। इसका अर्थ यह हुआ कि उसमें पानी आ रहा था। उस चट्टान के तीन-चार हाथ नीचे ही काली नदी का प्रवाह था। एक दिन तीसरे पहर संन्यासी ने वहाँ बैठे-बैठे बालू को हटाकर वहाँ एक गड्ढा किया। हे भगवान, वह देखते-ही-देखते पानी से भर गया! गरम पानी से – अद्भुत! जय भगवान! वह जो पीला-पीला रंग था, वह गन्धक का चिह्न था; और जहाँ भी गन्धक रहता है, वहाँ का पानी गरम रहता है। गरम पानी के जितने भी सोते हैं, उनमें थोड़े या अधिक मात्रा में गन्धक रहता ही है। गन्धक की मात्रा जितनी अधिक रहती है, पानी भी उतना ही अधिक गरम रहता है। कहीं-कहीं तो वह उबलता हुआ भी मिलता है।

बस! आश्रम के सभी लोग उस गरम जल में ही स्नान करने लगे। क्रमश: पहाड़ी लोगों को भी इसकी सूचना मिली। चारों ओर यह बात फैलने लगी कि "देवी आयी हैं, एक सिद्ध महात्मा की साधना के बल से देवी आयी हैं।" लोगों की खूब भीड़ होने लगी। उसमें महिलाओं की संख्या ही अधिक थी। ब्राह्मण पुरोहित ने आकर उसमें सिन्दूर लगाया और पूजा भी कर गया। स्नान का पुण्य लेनेवाले वहाँ एकाध पैसा भी रखकर जाने लगे।

इसके बाद वर्षा ऋतु आयी। वह स्थान नदी के जल में डूब जाने से स्नान-पुण्यार्थियों की भीड़ बन्द हो गयी।

चम्बा पहाड़ (जारी)

संन्यासी जिस चण्डी-मन्दिर में रहने गया था, उसका पुजारी कनफटा नाथ सम्प्रदाय का था। उसने पहले ही दिन कह दिया था – "देवी बड़ी जाग्रत और उग्र हैं। किसी को

पिछले पृष्ठ का शेषांश

लीजिए, तब सचमुच उसकी दृष्टि इतनी बदल जाती है कि वह मृत्यु के क्षण में भी प्रसन्न होकर जा रहा है –

निज परम प्रीतम देखि लोचन
सुफल करि सुख पाइहौं ।। ३/२६

यह चंचल मन भगवान के निकट पहुँचता है, भागता है और अन्त में भगवान कैसे इसके पीछे दौड़ते हैं! एक पद्धति तो यह है कि हम भगवान के नाम के पीछे पड़ जाएँ, परन्तु दूसरी मारीच जैसी स्थिति भी आ सकती है कि जब भगवान का नाम ही हमारे पीछे पड़ जाय। गोस्वामीजी ने इस स्थिति का वर्णन किया है। बड़ा विचित्र वाक्य कह दिया – हमारी जिह्वा कमल बन जाय और प्रभु का नाम भौंरा बन जाय –

जन मन मंजु कंज मधुकर से ।। १/२०/८

उल्टी बात लगती है। भगवान का नाम कमल है और हमारा मन भौंरा बन जाय – यही बात बार-बार कही जाती है। पर इस चौपाई में कहा गया कि हमारा मुख कमल और भगवान का नाम भौंरा। इसका अर्थ यह है कि यदि आप समर्थ हैं, तो आप निरन्तर भगवन्नाम के कमल पर मँडरायें, परन्तु शरणागति का यह बड़ा अद्भुत तत्त्व है – असमर्थता का तत्व! हमें प्रयत्नपूर्वक नाम-जप करना पड़े – यह भी एक अच्छी बात है, परन्तु प्रयत्न समाप्त हो जाय और जैसे भौंरा कमल पर मंडराता है, वैसे ही भगवान का नाम हम पर मँडराने लगे, नाम-भगवान स्वयं ही हमारी जिह्वा पर सवार हो जायँ, ऐसी भी एक स्थिति होती है। मारीच-रूपी मन के असमर्थ होते ही, शरणागत होते ही, भगवान बड़ी अनोखी पद्धति से इस मन के पीछे भागते हैं। तात्पर्य यह कि यदि हमारे जीवन में असमर्थता और शरणागति का तत्त्व उदय हो जाय, तो हम नाम-भगवान से कह सकते हैं कि हम तो आपको पकड़ने में सक्षम नहीं हैं, पर आप ही कृपा करके मुझे अपने में विलीन कर लीजिए। तब सचमुच ही भगवान स्वयं उस मन-मारीच के पीछे दौड़कर किस पद्धति के द्वारा उसको अपने आप में एकाकार कर लेते है! गोस्वामीजी मारीच के माध्यम से मानो साधना-क्रम का संकेत देते हुए यह बताना चाहते हैं कि हमारा मन किस प्रकार अन्तोगत्वा भगवान के नाम के साथ एकाकार हो सकता है।

❖ (क्रमश:) ❖

यहाँ नहीं रहने देतीं, इसीलिये मैं यहाँ नहीं रहता।'' संन्यासी बोला – ''वे यदि मना करें, तो चला जाऊँगा।''

नाथ हर रोज पूजा करने आता और पूछता – ''कुछ देखने को मिला क्या?'' एक रात एक छोटा नीले रंग का साँप दिखा। मन्दिर के छोटे मण्डप में एक बेंच था, जिस पर पीठ टिकाकर बैठा जा सकता था। उसका तख्ता खूब चौड़ा होने के कारण उस पर सोया भी जा सकता था। संन्यासी रात में वहीं बैठकर जप आदि करता। गहरी रात के समय खूब आनन्द मिलता। कभी-कभी वहीं सो भी जाता। भाग्य से उस साँप के ऊपर पाँव नहीं पड़ा, नहीं तो सम्भव है कि काट देता। लाठी से ठक-ठक आवाज करते ही साँप चला गया। नाथ सुनते ही बोला – ''वही नोटिस दे रही हैं।''

प्राय: दस दिन हो चुके थे। संन्यासी एक रात इसी प्रकार बेंच पर बैठा जप कर रहा था। अमावस्या की अँधेरी रात थी। रात गहरी हो चुकी थी। पहाड़ के दोनों तरफ नीचे शहर में तथा छावनी में बिजली की बत्तियाँ जल रही थीं। बड़ा सुन्दर दिख रहा था। रात के बारह बजे से भी अधिक का समय हो चुका था। किस समय वह ठीक दाहिने कान के पास, सहारा देनेवाले तख्ते के ऊपर आकर बैठा – इसका पता ही नहीं चला। सहसा उसकी ''हूऽऽ-हूऽऽ'' की आवाज से सारा शरीर रोमांचित हो उठा। गरदन घुमाकर देखने में भी काफी कठिनाई हुई। आँखों से आँखें लगते ही उड़ गया – एक विशाल काला उल्लू। उसके नेत्र बैगन के समान चमक रहे थे। उड़ जाने पर शरीर पर उसके पंख की हवा लगी।

अगले दिन नाथ को इस बात की सूचना देने पर, वह तो भय से काँपने लगा। कहने लगा – ''मैंने बताया था न – उन्हें यहाँ किसी का रहना पसन्द नहीं है। अब तो मृत्यु अनिवार्य है। कोई बचा नहीं सकता।'' इस पर भी संन्यासी के मन में भय का संचार नहीं हुआ। बोला – ''तो भी क्या? इसमें इतना घबड़ाने की क्या बात है?'' पुजारी ने जाकर यही बात राज-पुरोहित से कह दी। तीसरे पहर वे दलबल के साथ आ पहुँचे। सब कुछ दुबारा सुना – समय पूछा और ज्योतिष के अनुसार थोड़ा जोड़-भाग करने के बाद कहने लगे – ''छह महीने के भीतर मृत्यु निश्चित है। घर में भी पुजारी से सुनकर देखा था, यहाँ दुबारा देख लिया। कोई भूल नहीं है। छह महीने से अधिक नहीं बीतेगा। मृत्यु निश्चित है।''

संन्यासी हँसते हुए बोला – ''आपके मुख पर पुष्पवर्षा हो। बच गया! देहधारण के दु:ख-भोग का अन्त निकट जानकर बड़ी खुशी हुई। आपको असंख्य धन्यवाद!'' पण्डित बोले – ''आप संन्यासी हैं, इसीलिये बिना भय ऐसा कह रहे हैं। अन्य कोई होता, तो मृत्यु-भय से निष्प्रभ होकर 'त्राहि'-'त्राहि' करने लगता। उनके जीवन का आनन्द चला जाता।''

इसके बाद यह बात सुनकर बहुत-से लोग आने लगे और घटना का विवरण पूछने लगे। राजा साहब को सारी बातें ज्ञात होने पर उन्होंने अपने निजी सचिव को भेजा। वे बोले – ''निश्चित मृत्यु की बात जानने के बाद भी आप जरा भी विचलित नहीं हुए – पण्डित से यह समाचार सुनकर वे विस्मित होकर बोले – 'ये सच्चे सन्त हैं।' महाराज ने आदेश दिया है कि वे यदि वहाँ न रहना चाहें, तो उनकी जहाँ खुशी, रहने की व्यवस्था कर दी जाय।''

संन्यासी ने राजा साहब के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करते हुए बताया कि वह वहीं रहेगा।

वर्षा के दिनों में वहाँ असुविधा होने लगी। और प्रतिदिन वही उबले हुए मूंगदाल खाने से शरीर दुर्बल होता जा रहा था। ठण्ड भी अच्छी पड़ने लगी थी। गरम कपड़े न होने के कारण भी कष्ट हो रहा था। अत: संन्यासी ने चम्बा छोड़कर पठानकोट जाने का निश्चय किया।

प्रस्थान के दिन हेड-मास्टर के घर भिक्षा पाने गया था। जूते फटे देखकर उनके छोटे भाई ने चम्बा के जूते लेने का हठ किया। जूता कच्चे चमड़े का था – पाँव कट जायेंगे, इसीलिये संन्यासी उन्हें लेने को राजी नहीं हुआ। भोजन के लिये बैठने पर उसने पुराने जूते को दूर कहीं छिपा दिया और नये को लाकर रख दिया था। उसमें खूब तेल भी लगा दिया था, परन्तु तेल लगा देते ही चमड़ा नरम नहीं हो जाता। पहन कर देखा, तो टाइट था। तेल लगा देने के कारण मोची भी उसे नहीं बदलता। बाध्य होकर उसी को पहन लिया। बोले – रास्ते में ठीक हो जायेगा।

चम्बा से निकलकर दो-तीन मील जाते ही घनघोर वर्षा शुरू हुई। छत्ता नहीं था। जाल के समान जो खूब पतला कम्बल था, उसी से छत्ते का काम लिया जाने लगा। बीच-बीच में उसे निचोड़ लिया जाता था। इसके बाद की घटना 'मानवता की झाँकी' पुस्तक में 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' शीर्षक के अन्तर्गत लिपिबद्ध है।

'निश्चित मृत्यु' के मुख से निकलकर संन्यासी पठानकोट पहुँचा। वहाँ भी वह बुखार से बेहोश हो गया (द्रष्टव्य – 'मानवता की झाँकी' में 'बुढ़िया माई')। दो महीने खूब भोगना पड़ा। मृत्यु आकर भी नहीं आयी। पण्डित की बात काफी हद तक सत्य हुई, परन्तु शरीर की जगदम्बा ने रक्षा की। कौन समझेगा उनकी लीला!!

पठानकोट और देवराजपुर

संन्यासी (१९२७ ई. की सर्दियों में) जब अत्यन्त रुग्ण अवस्था में पठानकोट के आर्यसमाज में ठहरा था, तभी एक घटना हुई – समाज के अध्यक्ष बाबू अच्छरमल जी, जो बार-एसोसियेशन के नेता भी थे, एक दिन बोले – ''स्वामीजी,

एक मुसलमान है, 'शुद्धि' के लिये आया है। शुद्धीकरण के समय आपको उपस्थित रहना होगा। संन्यासी का शरीर इतना दुर्बल था कि तब भी वह ठीक से बैठ नहीं पाता था। बोला – "हालत तो देख ही रहे हैं, यज्ञस्थल पर उपस्थित होना सम्भव नहीं हो सकेगा। तो भी आपके अनुग्रह से इस आर्यसमाज में तो हूँ ही। अच्छा, क्या एक बार मैं उससे मिल सकता हूँ?" – "हाँ, हाँ, अवश्य मिल सकते हैं" – कहकर वे उस व्यक्ति को साथ ले आये।

संन्यासी उसे देखते ही काँप उठा। उसकी भीषण आकृति देखते ही मन में आया – "अरे, यह तो पक्का कसाई है; यह अवश्य ही किसी विशेष स्वार्थवश हिन्दू होने के लिये आया हुआ है!" उसे जाने को कहकर अध्यक्ष से अपने मन की बात कही और बताया कि ऐसे आदमी के शुद्धीकरण से हिन्दू समाज को हानि की ही अधिक सम्भावना है। पहले उसके पृष्ठभूमि की छानबीन करके देख लेना अच्छा रहेगा।

उसी रात को बारह बजे अमृतसर आर्यसमाज के एक आचार्य आये। ये एक बारात के साथ बस में आ रहे थे। रास्ते में रेलवे क्रासिंग पर एक इंजन के धक्के से बस उलट गयी, जिससे अनेक लोगों को काफी चोट आयी थी। कुछ लोगों की मृत्यु भी हो गयी थी। उन्हें भी थोड़ी-बहुत चोट लगी थी। इसके बाद वे एक दूसरी बस की सहायता से सबको पठानकोट के अस्पताल में ले आये। सामान्य मरहम-पट्टी के बाद वे ठहरने के लिये आर्यसमाज में आये।

सबेरे वे संन्यासी के साथ बातें कर रहे थे, तभी शुद्ध होने के लिये आया हुआ मुसलमान आया और झाँक कर चला गया। उन्होंने पूछा – "यह कौन है?" संन्यासी के सब कुछ बताने पर वे उसे देखने गये, फिर लौटकर बोले – "अरे, यह तो अमृतसर में शुद्ध हुआ था। अब और क्या?"

उन्होंने तत्काल अध्यक्ष को बुलाकर उनके सामने ही जिरह शुरू कर दी। उसने बताया – "सचमुच ही शुद्ध हुआ था, परन्तु वहाँ से जब गुरुदासपुर गया, तो वहाँ के मुल्लाजी ने मुझे समझाया और बीबी देने का वादा करके फिर मुसलमान बना दिया। परन्तु न तो उन्होंने कोई अच्छी नौकरी दिलवाई और न कोई बीबी ही दी। इसीलिये मैंने निश्चय किया है कि मैं फिर से आर्य हो जाऊँगा।" संन्यासी – "यह बीबी पाने के लालच में शुद्ध होने आया है। किसी विधवा को लेकर खिसक जाना ही इसका उद्देश्य है।"

उसे हटाकर वे लोग विचार करने लगे कि क्या किया जाय। इसी बीच वह मौका देखकर चम्पत हो गया। बाबू अच्छरमलजी ने स्वीकार किया – संन्यासी की बात ही ठीक थी; बिना देखे-समझे लाकर शुद्ध करना उचित नहीं होता।

* * *

संन्यासी थोड़ा स्वस्थ महसूस करने लगा था, तभी पटना या कानपुर से सत्य-धर्म मिशन के एक प्रचारक आये। वे संन्यासी के साथ खूब तर्क-वितर्क करने लगे – विशेषकर इस बात को लेकर कि आत्मा का प्रकाश सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है। संन्यासी ने कहा – "अभिव्यक्ति में तारत्मय है – कहीं कम है तो कहीं अधिक।" वे अभद्रतापूर्वक संन्यासी के सिर पर उंगली रखकर बोले – "इस सिर से लेकर उस पाँव के अंगूठे तक आत्मा समान रूप से व्याप्त है।"

संन्यासी ने कहा – "व्याप्ति तथा अभिव्यक्ति – दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। आप अभद्र हैं और अभद्र व्यक्ति के साथ बातें करना निरर्थक है।" यह कहकर संन्यासी चुप हो गया। थोड़ी देर बाद वे क्षमा माँगते हुए बोले कि वे आवेग में आकर ऐसा कर बैठे हैं, आदि। जब बाबू अच्छरमलजी को यह बात मालूम हुई, तो उन्होंने इनको खूब खरी-खोटी सुनाई और एक बार फिर माफी माँगने भेजा।

* * *

पठानकोट से २०-२५ मील दूर जंगल में पहाड़ के पास एक समृद्धिशाली गाँव (देवराजपुर) के जमींदार प्रद्युम्न सिंह आर्यसमाजी थे और किसी मुकदमे के सिलसिले में आये हुए थे। समाज में आने पर संन्यासी के साथ परिचय हुआ। उनके गाँव की जलवायु बहुत अच्छी है, यह बताकर उन्होंने संन्यासी से अपने साथ चलने का आग्रह किया। संन्यासी भी राजी हुआ और बाबू अच्छरमलजी से अनुमति लेकर वहाँ गया। वहाँ पहुँचते-पहुँचते करीब साढ़े बारह बज गये।

स्नान आदि करके भोजन करने बैठा। उनकी पुत्री हाथ में पंखा लिये मक्खियाँ भगाने आयी। १७-१८ साल की युवती थी – सुन्दर मजबूत शरीर! सिंहजी बोले – "इसे संस्कृत सिखाया है। ऋग्वेद (स्वामी दयानन्द कृत भाष्य) पढ़ाया है। लाठी, तलवार, बन्दूक आदि सब कुछ चलाना सिखाया है।" संन्यासी यह सब सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और उसके साथ थोड़ी देर बातचीत की।

इसके बाद वह ठहरने के लिये गाँव के बाहर स्थित उनके उद्यान-भवन में गया। यह मकान एक नाले के उस पार बना हुआ था। उसके ठीक सामने १००-२०० गज की दूरी पर गाँव से लगी हुई एक मस्जिद थी। संन्यासी मकान की छत पर बैठकर सिंह के साथ बातें कर रहा था, तभी उसने देखा कि कुछ लोग मस्जिद में खड़े हैं और उंगली से उन्हीं लोगों की ओर से इशारा कर रहे हैं। मस्जिद के सामने नाले पर कुछ करंजी के पेड़ थे, उसकी डालों के भीतर से यह सब दिख रहा था। सिंह को यह बताते ही वे उठकर चले गये और थोड़ी देर बाद लौटकर बोले – "स्वामीजी, आप यहाँ नहीं रहेंगे। घर चलिये।" – "क्यों? क्या बात है?" वे बोले – "उन लोगों ने एक विधवा को मुसलमान बना लिया था, कुछ दिनों पूर्व उसका शुद्धीकरण किया गया

है। उसी प्रकार एक अन्य महिला भी शुद्ध होने के लिये तैयार है। इसीलिये ये लोग सोच रहे हैं कि आप उस शुद्धीकरण के लिये पधारे हैं, इसीलिये उन लोगों ने आक्रमण करने का निश्चय किया है। यहाँ पर आपका अनिष्ट हो सकता है, परन्तु घर जाने पर सहज ही आपकी रक्षा की व्यवस्था हो सकेगी। हमारा मुहल्ला किले के समान है। एक बार दरवाजा बन्द कर लेने पर वह मजबूत गढ़ के समान हो जाता है और सबके पास बन्दूक है। इसलिये यदि उन लोगों ने कुछ किया, तो हम गोलियाँ चला देंगे।''

संन्यासी ने कहा – ''यदि उन लोगों ने आक्रमण करने का निश्चय कर लिया हो, तो मुहल्ले-वालों को सावधान कर देना ही आपका पहला कर्तव्य है। ताकि वे लोग किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिये तैयार रहें। आप तत्काल जाकर ऐसा ही कीजिये – मेरे लिये चिन्ता मत कीजिये।''

थोड़ी देर बाद वे आकर कहने लगे – ''बता दिया गया है। अब चलिये। मेरी पुत्री कह रही है कि वह तलवार लेकर आपके पास खड़ी रहकर पहरा देगी और प्राण रहते आपका अनिष्ट नहीं होने देगी।'' सुनकर संन्यासी के नेत्र आँसुओं से भीग गये और उसने दोनों के विषय में गर्व का अनुभव किया। परन्तु साथ जाने को राजी नहीं हुआ, यह कहते हुए सिंह को वापस भेज दिया कि वह संन्यासी है और उसकी मृत्यु से किसी को कोई क्षति नहीं होनेवाली है।

उनके चले जाने के बाद एक एक नेत्रवाले वृद्ध आये – ''ओह, आप शायद आज ही आये हैं। आर्य लोगों के कार्य से हम लोगों को भी शान्ति नहीं है। आप भागिये, भागिये, इस जंगल के रास्ते भागकर सीधे पठानकोट चले जाइये, नहीं तो मुसलमानों के हाथ मारे जायेंगे।'' ये सनातनी थे। संन्यासी ने नाराजगी के स्वर में कहा – ''आप घर भागिये, जल्दी घर भागिये और घर की रक्षा की व्यवस्था कीजिये। एक छोटी-सी बालिका कह रही है कि आवश्यकता हुई, तो प्राण दे दूँगी और आप आये हैं भागने की बुद्धि देने। चलिये, उठिये।'' वृद्ध बड़बड़ाते हुए चले गये।

संध्या होने को आयी। नीचे के कमरे में दो उत्तर भारतीय भाई रहते थे। वे ही चाय आदि तैयार करते थे। गड़बड़ी की खबर पाकर वे भी खिसक पड़े थे। संन्यासी मकान में अकेला था। संन्यासी ने छत से देखा – दो सिख युवक तेजी से उधर ही चले आ रहे हैं। आते ही 'मत्था टेक दे' कहते हुए बोले – ''मुसलमान लोग आपके ऊपर हमला करेंगे। चलिये हमारे घर! हमारे गुरुद्वारे* में रहियेगा।

संन्यासी ने कहा – ''तो क्या वहाँ पर वे लोग हमला नहीं कर सकेंगे?''

उत्तर – ''उनकी क्या बिसात? काटकर फेंक नहीं देंगे?''

संन्यासी – ''अच्छा, तुम लोग कितने घर हो?''

उत्तर – ''पाँच घर।''

संन्यासी – ''और वे लोग?''

उत्तर – ''ढाई सौ घर।''

संन्यासी – ''और हिन्दू लोग?''

उत्तर – ''डेढ़ सौ घर।''

संन्यासी – ''तो फिर उन्हीं लोगों की संख्या तो अधिक है। तुम लोग पाँच घर होकर किस प्रकार उन लोगों का मुकाबला कर सकोगे?

उत्तर – ''हमारे पाँच घर उनके पाँच सौ घर के बराबर हैं। उन लोगों में कुछ करने की हिम्मत नहीं है।''

संन्यासी ये शौर्यपूर्ण बातें सुनकर खूब आनन्दित हुआ और मन-ही-मन गुरु गोविन्द सिंह के प्रति अभिवादन करने लगा – धन्य गुरु गोविन्द सिंह! ये सिख हिन्दुओं में से ही होते हैं, पर कितने तेज से परिपूर्ण हो जाते हैं ये! धन्य हैं आप! पूरी हिन्दू जाति में यह तेज क्यों नहीं आता? उस एक नेत्रवाले वृद्ध का सनातनी भाव है, इसीलिये उसने भाग जाने को कहा।

संन्यासी ने बताया कि वह कहीं नहीं जायेगा, वहीं रहेगा और जो होना है, सो हुआ करे। वे लोग बोले – ''आपको अकेला छोड़कर हम लोग भी नहीं जायेंगे। वाहे गुरु! तो यहीं बैठते हैं।'' इतना कहकर वे लोग अपनी कटारियाँ खोलकर बैठ गये। संन्यासी ने उन्हें बहुत समझाया, परन्तु वे टस-से-मस नहीं हुए।

उधर मुसलमान लोग पेट्रोमेक्स बत्तियाँ जलाकर जुलूस के रूप में अपने मुहल्ले में घूमने निकल पड़े थे। वे लोग छाती पीट-पीटकर गा रहे थे – ''दे दे जान मदीनेवाले कोई ... !'' (केवल यही एक पंक्ति याद है। कहते हैं कि मुहम्मद साहब भी मक्का पर आक्रमण करने के पूर्व जिहाद के कार्य हेतु अपनी सेना में भर्ती के लिये इसी प्रकार दल-बल के साथ मदीने के रास्तों में घूमे थे।)

संन्यासी ने देखा कि मस्जिद के ठीक पास के रास्ते से एक प्रौढ़ महिला चली आ रही हैं। शरीर पर सिख नारियों का वेश था। देखते ही लगा कि उन युवकों की माँ होंगी। सीधे संन्यासी के पास चली आयीं। हाथ में लोटा था। 'मत्था टेक दे' – कहते हुए गरम दूध से भरा हुआ लोटा संन्यासी के सामने रखकर बोलीं – ''बाबाजी, यह दूध मात्र पी लीजिये। इस गड़बड़ी के बीच आपके खाने की बात किसी को याद नहीं रही। सभी भूल गये हैं। आपको अवश्य भूख लगी होगी। सन्त भला कैसे भूखा रहेगा? इसीलिये यह ताजा दूध गरम करके ले आयी हूँ।''

* गुरुद्वारा – जिस कमरे या मन्दिर में ग्रन्थ-साहब को रखते हैं।

संन्यासी – "परन्तु माँ, आप उस मस्जिद के पास से होकर आयीं। वे लोग यदि कुछ भी कहते और आपका अपमान हो जाता, तब तो बड़ा भयंकर रक्तपात हो जाता।"

माई – "मेरा अपमान करे, ऐसा दो सिरवाला यहाँ कोई नहीं है। ये लोग तत्काल उसके दो टुकड़े कर डालेंगे।" (युवकों में एक उनका और दूसरा देवर का पुत्र रहा होगा।)

संन्यासी – "आप इन्हें घर ले जाइये। यहाँ पर हमला हो सकता है।"

माई – "आप भी हमारे घर चलिये। वहाँ पर कोई भी हमला करने का साहस नहीं कर सकेगा।"

संन्यासी – "नहीं, मेरे लिये ही यह काण्ड हो रहा है, इसलिये मैं किसी के भी घर नहीं जाऊँगा। यहीं पर रहूँगा। आप इन्हें ले जाइये, अन्यथा इनका अनिष्ट हो सकता है।"

माई – "नहीं, ये आपकी रक्षा के लिये यहीं रहें। सन्त के लिये यदि मृत्यु भी हो जाय, तो मेरा गर्भधारण सफल हो जायेगा। मेरा अहोभाग्य होगा।"

संन्यासी का हृदय श्रद्धा से इन माँ के चरणों में अवनत हो गया – "धन्य हो माँ ! धन्य हो वीर-प्रसविनी !"

इसके साथ ही राजपूत तथा सिक्खों के त्याग तथा वीरता का इतिहास नेत्रों के सामने से चित्रपट के समान भासने लगा। अहा, सिक्ख गुरुओं के समय घर-घर में ऐसी माताएँ हुई थीं, जिन्होंने हँसते हुए धर्म तथा देश की रक्षा हेतु अपने पुत्रों का बलिदान कर दिया था। विधर्मियों के अत्याचार के सम्मुख भी उन लोगों ने अपना सिर झुकाया नहीं, बल्कि ऊँचा किये रखा। धन्य जननी ! धन्य माँ !"

वे पुत्रों को ले नहीं गयीं। वे दोनों खुली कटारियाँ लिये संन्यासी के पास ही बैठे रहे। वे दोनों और संन्यासी – सारी रात उसी छत पर बैठे रहे। वे लोग किसी भी क्षण आक्रमण हो सकता था। जुलूस पूरे गाँव में घूमती रही। २-३ मस्जिदों में भाषण हुए – गरम, उत्तेजनापूर्ण भाषण ! इसके बाद जुलूस फिर उसी मस्जिद में लौट आयी।

सूर्योदय हो रहा था। उसी समय संन्यासी ने देखा कि मकान के पीछे के जंगल के रास्ते से होकर घुड़सवार पुलिस की पार्टी चली आ रही है। एक सिख सरदार इंस्पेक्टर उस पार्टी को लेकर चले आ रहे थे। पठानकोट में उनके साथ परिचय हुआ था। संन्यासी को पहचान कर बोले – "क्या बात है स्वामीजी, आप यहाँ कब आये?" संन्यासी ने उनसे थोड़ा छत पर आने का अनुरोध किया। वे घोड़े से उतरकर ऊपर आये। वहाँ दो युवकों को हाथ में खुली कटारी लिये बैठे देखकर वे घबरा गये। तब संन्यासी ने उन युवकों को आश्वस्त करते हुए सारी बातें सुनाने को कहा। सब सुनकर वे बोले – "आप चिन्ता मत कीजिये। अभी सब ठीक कर देता हूँ।" और वे अपनी पार्टी के साथ सीधे मस्जिद की ओर चले गये।

थोड़ी देर बाद ही वे मुल्लाजी और गाँव के मुसलमान पुलिस हेड को साथ लेकर संन्यासी के पास चले आये। आते ही वे लोग क्षमा माँगते हुए बोले – "इन लोगों ने तो हमें बताया था कि आप आर्यसमाजी हैं। हम लोगों से भूल हुई है।" संन्यासी ने कहा – "इस समय मैं आर्यसमाजी ही हूँ। आप लोग मुसलमान बनाते हैं, वह यदि धर्म हो, तो फिर इनका शुद्धि करना अधर्म कैसे हुआ? आर्यसमाज या हिन्दुओं के द्वारा वैसा करने पर आप लोग इतना उग्र विरोध क्यों करते हैं? खैर, जो हुआ, सो हुआ; लेकिन आप लोगों ने जो उत्तेजना पैदा किया है और इसके द्वारा जो खून-खराबा होने की सम्भावना बनी हुई है, इसके लिये आप लोग ही जिम्मेदार होंगे।"

इंस्पेक्टर बोले – "बिलकुल ठीक बात है। आप लोगों को ही जिम्मेदार बनाऊँगा। इन स्वामीजी के ऊपर कोई हमला होने पर मैं आप लोगों को ही उत्तरदायी बनाऊँगा। इनका कोई अनिष्ट न हो – इसके लिये, ये जितने भी दिन यहाँ रहेंगे, तब तक आप लोगों को ही इनकी रक्षा की व्यवस्था करनी होगी। आप लोग दिन-रात पहरे की व्यवस्था कीजिये।" इसके बाद वे उन लोगों को साथ लेकर मस्जिद की ओर चले गये।

थोड़ी देर बाद संन्यासी ने देखा कि मकान के पास के वटवृक्ष के चबूतरे पर दो व्यक्ति बैठे हुए हैं। पूरे दिन भर और रात में भी वे दोनों मुसलमान युवक पहरा देने लगे।

३-४ दिन बाद प्रद्युम्न सिंहजी ने वहीं पर एक सार्वजनिक सभा बुलाई, जिसमें संन्यासी ने कुछ वक्तव्य दिया। मुल्लाजी कुछ अन्य लोगों को साथ लेकर उसमें उपस्थित थे। उसके बाद से उनका व्यवहार काफी नरम पड़ गया था। पहरे पर रहनेवाले युवक संन्यासी को सलाम करते और पूछते – "आप यहाँ कितने दिन रहेंगे?"

संन्यासी दो सप्ताह रहा। इसके बाद फिर पठानकोट लौटा और कुछ दिन वहाँ बिताने के बाद कराची चला गया।

❖ (क्रमशः) ❖

सौजन्यता की कसौटी

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मैं एक दिन कार द्वारा भोपाल से इन्दौर जा रहा था। मेरे साथ मेरे एक मित्र थे तथा उनका आठ वर्षीय पुत्र। एक स्थान पर रास्ते के किनारे एक फलक लगा हुआ था, जिसमें लिखा था - ''सौजन्य से सभी खुश रहते हैं।'' बालक ने वह पढ़ा और पूछा – ''स्वामीजी, यह सौजन्य क्या है?'' मैंने कहा – ''बेटे, अच्छा व्यवहार सौजन्य कहलाता है।''

सौजन्य का अर्थ होता है 'सुजनता' - भद्रता। सबके साथ मेरा व्यवहार भद्रता का होना चाहिए। यदि कोई घर पर मेरे पिता या किसी बुजुर्ग से मिलने आया हो, तो उससे व्यवहार करने के दो प्रकार हैं। एक तो यह कि पूछते ही मैं कह दूँ कि नहीं, वे घर पर नहीं है और दरवाजा बन्द कर लूँ। और दूसरा यह है कि यदि आगन्तुक उम्र में मुझसे बड़े दीख पड़ते हैं तो उन्हें नमस्कार करूँ और उनसे कहूँ कि आइए, तशरीफ लाइए। फिर उन्हें बैठाकर मैं कहूँ कि वे तो नहीं हैं, यदि कुछ काम बताने लायक हो तो बता दीजिए। यह दूसरा तरीका सौजन्य कहलाता है।

मान लें कि कोई मेरे कार्यालय में आया और किसी काम की बाबत पूछने लगा। एक तरीका यह है कि मैं रूखेपन से उत्तर दूँ कि आगे जाकर पूछ लीजिए, यहाँ का काम यह नहीं है। दूसरा तरीका यह भी हो सकता है कि मैं नम्रतापूर्वक काउण्टर का नम्बर बता कर कहूँ – आप उस काउण्टर पर चले जाइए। यह दूसरा तरीका सौजन्य है।

मैं रास्ते से जा रहा हूँ। किसी ने कहीं का रास्ता पूछा। एक तरीका यह है कि मैं एक ओर हाथ दिखाकर कह दूँ – सामने जाकर पूछ लो। दूसरा तरीका यह है कि मैं उसके साथ कुछ दूरी तक जाकर सही मोड़ दिखा दूँ। यह दूसरा तरीका सौजन्य है।

मैं बस या ट्रेन में चढ़ना चाहता हूँ। बड़ी भीड़ है, धक्कमपेल है। एक वृद्ध या वृद्धा भी उस भीड़ में चढ़ने की कोशिश में हैं। मैं पहले उन्हें चढ़ने के लिए सहारा देता हूँ। यह सौजन्य है।

एक बार मैं बस से जा रहा था। बड़ी भीड़ थी। लोग ठसाठस खड़े थे। एक बूढ़ी माई भी लाठी का सहारा लेकर झुकी खड़ी थी। यह देखकर एक व्यक्ति उठकर खड़ा हो गया और अपनी सीट उस बूढ़ी माई का देता हुआ बोला, ''आओ मैया, यहाँ बैठ जाओ।'' यह सौजन्य है।

हम लोग अमरनाथ जी के दर्शन कर लौट रहे थे। हमने बालटाल वाला मार्ग लिया था। अमरनाथ जी की गुफा से उतरने के बाद लगभग ३ किलोमीटर हिमनदी पर चलने के पश्चात् एक रास्ता बाँईं ओर पंचतरणी के लिए मुड़ता है। और दाहिनी ओर का रास्ता बालटाल जाता है। वहाँ से लगभग १००० फुट की सीधी उतार है। हम लोग नीचे पहुँचे। देखा एक प्रौढ़ा रो रही थी। पता चला उसे पंचतरणी जाना था और भूल से वह इस रास्ते से उतर आयी है। उसके साथी बिछुड़ गये थे। वह यात्रियों के सामने हाथ-पैर जोड़ रही थी ऊपर चलकर रास्ता दिखा देने के लिए। दिन भी बीतता जा रहा था। कौन यात्री १००० फुट की सीधी चढ़ाई फिर से चढ़कर उसे रास्ता बताता? सभी हाथ से उसे रास्ता दिखाकर चले जा रहे थे। हमारे दल का एक युवा व्यक्ति उस प्रौढ़ा को सहारा देकर ऊपर ले गया और पंचतरणी का रास्ता दिखा आया। भले ही उसे इसमें दो घण्टे का विलम्ब हुआ, और अतिरिक्त परिश्रम भी, पर एक सन्तोष से उसका मुखमण्डल दीप्त था। यह सौजन्य की पराकाष्ठा है।

यदि व्यक्ति इस प्रकार का सौजन्य अपने व्यवहार में प्रदर्शित करे, तो भला कौन उससे खुश न होगा? ऐसा व्यक्ति सबको अपना बना लेता है। सौजन्यशील व्यक्ति दूसरे के कष्ट का अनुभव करता है और उसे यथासम्भव दूर करने की चेष्टा करता है। यदि व्यक्ति किसी की पीड़ा को दूर करने के लिए भौतिक रूप से कुछ नहीं कर सके, तो कम से कम वह सान्त्वना के दो शब्द तो कह ही सकता है। वाणी में विचित्र शक्ति होती है। वह विष का ताप भी पैदा कर सकती है और अमृत की शान्ति भी। मैं एक ऐसे चिकित्सक को जानता हूँ, जिसके दो शब्द रोगी की आधी पीड़ा को हर लेते हैं। और ऐसे भी चिकित्सक से मेरा परिचय है, जिसके शब्द रोगी की पीड़ा को बढ़ा देते हैं।

सौजन्य मानवता का एक ऐसा सुन्दर पुष्प है, जो सुरभि से जीवन को महँका देता है। ❑❑❑

स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) ने १८७५ ई. में आर्यसमाज आन्दोलन आरम्भ किया। वे वेदों के एक महान् विद्वान् थे और उनके मतानुसार वे पूरी तौर से एकदेववादी थे। "दयानन्द ने वेद को अपनी विचारधारा की नींव का पत्थर माना; इसे जीवन का पथ-प्रदर्शक दृष्टिकोण माना, अपने आन्तरिक अस्तित्व का नियम तथा बाह्य जगत् में कार्य की प्रेरणा माना; परन्तु उससे भी अधिक उन्होंने इसे उस परम सत्य की वाणी माना, जिस पर मनुष्य का ईश्वर-विषयक ज्ञान और ईश्वर तथा अपने मानव-भाइयों के साथ उसके सम्बन्ध को न्यायसंगत तथा सुदृढ़ आधार मिल सकता था।"[१] इस प्रकार आर्यसमाज इस्लाम तथा ईसाई धर्म के अतिक्रमणों के विरुद्ध एक प्राचीर बन गया; और इसके पुरातनता का भाव बहुत-से हिन्दुओं को भाने लगा। ब्राह्मसमाज के विपरीत उसका प्रभाव आम जनता में फैलने लगा। सत्य की उपलब्धि के लिये यह केवल एक ही मार्ग – आर्यसमाज के मार्ग पर बल देनेवाला एक कट्टरपन्थी आन्दोलन था।

स्वामी दयानन्द बैरिस्टर श्री चन्द्रशेखर सेन के आमंत्रण पर १५ दिसम्बर १८७२[२] को कलकत्ते आये। उन्हें बराहनगर के पास नैनाल[३] में स्थित जतीन्द्र मोहन टैगोर के सुन्दर उद्यान-भवन में ठहराया गया। संस्कृत, हिन्दी, बंगला तथा अंग्रेजी में विज्ञप्ति जारी करके पूछताछ का आमंत्रित किया गया और दयानन्दजी से धार्मिक विषयों पर चर्चा करने के लिये विद्वानों का आह्वान किया गया।[४] कलकत्ता उन दिनों ब्राह्म आन्दोलन से गुंजायमान था। वे प्रमुख ब्राह्मनेता केशव चन्द्र सेन के सम्पर्क में आये, जो अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए तथा ईसाई धर्म से प्रभावित थे। दूसरी ओर वे वरिष्ठ ब्राह्मनेता महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर के भी सम्पर्क में आये, जो उपनिषदों के प्रेमी थे। दयानन्दजी पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न तथा पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति जैसे समकालीन हिन्दू विद्वानों से भी मिलने गये। वैदिक सिद्धान्तों पर उन्होंने कई जगह व्याख्यान भी दिये, परन्तु नगर में एक वैदिक विद्यालय स्थापित करने की उनकी योजना सफल नहीं हो सकी।[५] इसमें कोई सन्देह नहीं कि कलकत्ते के उपनगरीय अंचल में अपने चार महीने[६] के संक्षिप्त निवास के दौरान स्वामी दयानन्द का भारत की तत्कालीन राजधानी में खूब नाम हो गया।

श्रीरामकृष्ण ने जब सुना कि वे शास्त्रों के एक महान् विद्वान् तथा साधक भी हैं, तो उनके मन में दयानन्दजी से मिलने की इच्छा उत्पन्न हुई। जैसा कि सर्वविदित है श्रीरामकृष्ण के मन में धर्म-साधकों से मिलने के लिये तीव्र उत्साह का भाव था। वे कहा करते थे – "गीता में लिखा है कि जिसे बहुत लोग मानें, उसमें ईश्वर की विशेष शक्ति है।"[७] श्रीरामकृष्ण ने स्वामी दयानन्द के दर्शनार्थ जाने का निश्चय किया। वैसे निश्चित जानकारी तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु हम अनुमान लगा सकते हैं कि वे सम्भवत: कप्तान विश्वनाथ उपाध्याय के घोड़ागाड़ी में वहाँ गये थे। इस अवसर पर सम्भवत: केवल कप्तान ही श्रीरामकृष्ण के साथ गये थे[८] और समय सम्भवत: १८७३[९] के जनवरी में किसी दिन के तीसरे पहर का था। श्रीरामकृष्ण जब स्वामी दयानन्द सरस्वती के पास पहुँचे, तो उन्होंने पाया कि उस दिन केशव चन्द्र सेन के वहाँ आने की बात है और वे उनसे मिलने को बड़े आतुर हैं। दयानन्दजी कुछ मिनटों के अन्तराल पर बाहर जाकर देख आते थे कि कहीं केशव चन्द्र आ तो नहीं गये।[१०] श्रीरामकृष्ण को बाद में पता चला कि केशव चन्द्र ने उस दिन उनसे मिलने का समय ले रखा था। यह तो निश्चित रूप से ज्ञात है कि श्रीरामकृष्ण उस दिन केशव चन्द्र से नहीं मिल सके थे। वैसे इस बात की सम्भावना कम ही है, परन्तु सम्भव है कि केशव चन्द्र उस दिन आने की बात भूल गये हों, या फिर श्रीरामकृष्ण के वहाँ से विदा हो जाने के बाद देरी से आये हों।

श्रीरामकृष्ण की जैसी रीति थी, वहाँ पहुँचकर उन्होंने विनम्रतापूर्वक दयानन्दजी का अभिवादन किया। दयानन्दजी ने भी बदले में अभिवादन किया। श्रीरामकृष्ण व्यक्ति के पूरे व्यक्तित्व को देख पाने में सक्षम थे और उन्हें दयानन्दजी को समझने में जरा भी समय नहीं लगा। अपनी इस धारणा को बाद में उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया था – "सींती के बगीचे में उसे देखने गया; मैंने देखा कि उसे कुछ शक्ति प्राप्त हुई है; वक्ष:स्थल सदा लाल बना हुआ है; वैखरी स्थिति है – दिन-रात चौबीस घण्टे बातें कर रहा है; व्याकरण का प्रयोग कर (शास्त्र की) बहुत-सी बातों का वह विपरीत अर्थ करने लगा; स्वयं कुछ करना है, अपना कोई मत चलाना है – इस प्रकार का अहंकार उसके अन्दर विद्यमान है।"[११]

स्वामी दयानन्द प्राय: संस्कृत में ही बोलते थे। वे बँगला भाषा नहीं जानते थे और उसे व्यंग्यपूर्वक 'गौड़ाण्ड भाषा' कहते थे। लिखा है कि उन्हें आशंका हुई कि लोग उनकी बातें नहीं समझ सकेंगे, अत: कलकत्ते में उन्होंने हिन्दी बोलना आरम्भ किया। अत: श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के बीच वार्तालाप का माध्यम मुख्यत: हिन्दी ही रहा।

एक तो स्वामी दयानन्द का मन केशवबाबू के आने की चिन्ता में लगा हुआ था। दूसरे, श्रीरामकृष्ण दिखने में एक साधारण-से व्यक्ति थे और वे शास्त्रार्थ करने की परम्परागत शैली से भी अनभिज्ञ थे। इन्हीं कारणों से सम्भव है कि दयानन्दजी को उनके साथ उनकी धार्मिक चर्चा में समय देने की इच्छा न हुई हो। दयानन्दजी के एक आक्रामक शिष्य ने श्रीरामकृष्ण के साथ चर्चा आरम्भ की और शीघ्र ही साकार ईश्वर की उपासना के औचित्य का खण्डन करना शुरू किया। श्रीरामकृष्ण ने अपनी अनुभूतियों का वर्णन करके उसके तर्कों का उत्तर देने का प्रयास किया। तब दयानन्दजी भी चर्चा में सम्मिलित हो गये। उन्होंने बारम्बार अपने स्वयं के मत पर जोर दिया, तर्क के द्वारा उसका समर्थन किया और अन्य किसी के मत पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। इससे श्रीरामकृष्ण अर्धचेतन भावावस्था में चले गये। वे धीमे स्वर में कहने लगे – "तो क्या जगदम्बा के दर्शन के लिये की गयीं मेरी सारी साधनाएँ और उसके बाद प्राप्त हुए सारे दर्शन तथा अनुभूतियाँ असत्य हैं ! तो क्या मुझे धोखा दिया गया है।[१२] इन शब्दों का उच्चारण करते हुए वे गहरी समाधि में डूब गये।[१३] महापण्डित स्वामी दयानन्द, जो स्वयं भी एक सच्चे साधक थे, श्रीरामकृष्ण में आया हुआ यह रूपान्तरण देखकर हतप्रभ रह गये। आनन्द से उनके होठों पर हँसी आ गयी, आँखें नम हो गयीं। भाव में आविष्ट होकर उनके शरीर में कम्पन होने लगा। उन्हें श्रीरामकृष्ण में कोई दैवी अभिव्यक्ति दीख पड़ी। श्रीरामकृष्ण अब भी समाधिमग्न थे – वे उनके चरणों में अवनत हो गये।[१४]

बड़े खेद की बात है कि दक्षिणेश्वर के सन्त तथा आर्यसमाज के संस्थापक के बीच जो बातचीत हुई, उसका कोई खास विवरण उपलब्ध नहीं है। वैसे श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही उन बातों के एक अंश का वर्णन किया है। एक दिन (११ अक्तूबर १८८४) उन्होंने जीवात्मा के पंचकोषों का वर्णन करते हुए कहा था – "जब मन कारण शरीर में आता है, तब आनन्द होता है, मन आनन्दमय कोष में रहता है। यह चैतन्यदेव की अर्ध-बाह्य दशा थी। इसके बाद मन लीन हो जाता है। मन का नाश हो जाता है। महाकारण में मन का नाश होता है। मन का नाश हो जाने पर फिर कोई खबर नहीं रहती। यह चैतन्यदेव की अन्तर्दशा थी। अन्तर्मुख अवस्था कैसी है, जानते हो? दयानन्द ने कहा था, 'अन्दर आओ, दरवाजा बन्द कर लो।' अन्दर हर किसी की पहुँच नहीं होती।"[१५]

श्रीरामकृष्ण ने स्वामी दयानन्द के एक विशेष दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए कहा है – "वे (दयानन्द) देवता को मानते थे। केशव नहीं मानता था।[१६] दयानन्द कहते थे, ईश्वर ने इतनी चीजें बनायीं, क्या देवता नहीं बना सकते थे?[१७]

श्रीरामकृष्ण ने यह भी कहा – "दयानन्द परम तत्त्व को निराकार के रूप में मानते थे।" कट्टर भक्त कप्तान विश्वनाथ उपाध्याय उस समय रामनाम का जप कर रहे थे। साकार ईश्वर की पूजा की निरर्थकता बताने के लिये दयानन्दजी ने व्यंग्यपूर्वक कप्तान विश्वनाथ से कहा – " 'बर्फी-बर्फी' क्यों नहीं रटते?"[१८] यह ज्ञात नहीं है कि श्रीरामकृष्ण ने इस अवसर पर कोई भजन गाया अथवा नहीं। सम्भवत: उन्होंने अधिक कुछ नहीं कहा। परन्तु नि:सन्देह उनके परमहंस-जैसे आचरण तथा समाधि ने दयानन्दजी को गहराई से प्रभावित किया था। स्वामी दयानन्द ने अपना उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा था – "हम लोगों ने इतना वेद और वेदान्त पढ़ा, परन्तु उसका फल इस महापुरुष में ही नजर आया। इन्हें देखकर प्रमाण मिला कि सब पण्डितगण शास्त्रों का मन्थन कर केवल उसका मट्ठा पीते हैं; मक्खन तो ऐसे ही महापुरुष खाया करते हैं।"[१९]

श्रीरामकृष्ण वहाँ अधिक देर तक नहीं ठहरे। विदा लेकर कप्तान विश्वनाथ उपाध्याय के साथ दक्षिणेश्वर को चल पड़े।

सन्दर्भ-सूची –

१. श्रीअरविन्द, Bankim-Tilak-Dayananda, 2nd ed., p. 48

२. शंकरनाथ पण्डित, दयानन्द जीवनचरित, खण्ड २, पृ. १३०

३. ताराचन्द द्यूमाल गज्रा ने अपने The Life of Dayananda Sarswati (p. 35) ग्रन्थ में दावा किया है दयानन्दजी को सींथी (कलकत्ता) के सुन्दर मोहन के उद्यान-भवन में ठहराया गया था। सम्भव है कि वे कुछ काल वहाँ भी ठहरे हों।

४. 'इंडियन मिरर' पत्र के ३० दिसम्बर १८७२ के अंक में लिखा था – "हाल ही में बनारस के विद्वान् पण्डितों द्वारा एक खुले शास्त्रार्थ में परास्त कर दिये जानेवाले दुर्जेय हिन्दू मूर्तिभंजक पण्डित दयानन्द सरस्वती ने पूरे उत्तरी भारत में अपनी प्रसिद्धि फैला ली है। वे कलकत्ते आये हुए हैं और इस समय नैनाल के उप-नगरीय अंचल में राजा जतीन्द्र मोहन टैगोर के उद्यान-भवन में ठहरे हुए हैं। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, बँगला तथा अंग्रेजी में विज्ञप्तियाँ जारी की हैं।" (शंकरनाथ पण्डित के दयानन्द जीवनचरित, खण्ड २, पृ. १३० पर उद्‌धृत)

५. 'इंडियन मिरर' के ३ मार्च १८७३ के अंक में है – "नगर में एक वैदिक स्कूल खोलने की उन (स्वामी दयानन्द) की योजना को लगता है जनता का समर्थन नहीं मिला।

६. B. K. Singh: *Swami Dayananda,* p. 41; स्वामी दयानन्द १ अप्रैल १८७३ को हुगली गये और १६ अप्रैल को वहाँ से भागलपुर (बिहार) के लिये रवाना हुए।

७. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ५६१

८. लगता है कि श्रीरामकृष्ण के सतत संगी हृदयराम उनके साथ नहीं

(शेष अगले पृष्ठ पर)

जो ताको काँटा बुवै

स्वामी सत्यरूपानन्द

अन्य व्यक्तियों द्वारा किये गये व्यवहारों के प्रति व्यक्त हमारी प्रतिक्रिया हमारा आचरण है। यह प्रतिक्रिया हमारे आन्तरिक चरित्र का बाह्य प्रकाशन है। अचेतन मन में पोषित प्रवृत्तियों द्वारा ही हमारा चेतन आचरण जाने-अनजाने संचालित होता रहता है। चेतन मन द्वारा बार-बार किये गये विचार, निरन्तर ग्रहण किये गये संस्कार, धीरे-धीरे अचेतन मन में प्रविष्ट हो जाते हैं। अचेतन मन में संचित इन्हीं संस्कारों का समूह हमारा चरित्र है। अत: यह सिद्ध होता है कि हमारे चरित्र और आचरण के निर्माता हम स्वयं हैं। दूसरा तथ्य यह प्रकट होता है कि हमारे चरित्र में कोई भी दोष क्यों न हो, कैसी भी दुर्बलता क्यों न हो, उसे दूर कर सच्चरित्रता का अर्जन और आचरण किया जा सकता है।

हमारे विचार और कार्य हमारे मन में संस्कार उत्पन्न करते हैं। अत: सदाचारी व्यक्तियों के आचरण और विचार हमारे चरित्र निर्माण में सहायक और उपयोगी होते हैं। महाभारत की निम्न कथा मानव-चरित्र की एक बड़ी दुर्बलता को दूर करने का अमोघ उपाय हमें बताती है।

यह उस युग की कथा है, जब समाज के सभी वर्ण कर्म -प्रधान थे। सभी वर्णों के लोग अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अपना कर्त्तव्य निभाते थे। इस प्रकार कर्त्तव्यशील ही समाज में सम्मान पाते थे। मध्यदेश में एक ब्राह्मण परिवार रहता था। उस परिवार में एक तमोगुणी उद्धत बालक का जन्म हुआ। बालक का नाम गौतम रखा गया। बचपन से ही वह दुष्ट उद्दण्ड और मूढ़मति था। बड़े होने पर न तो उसने वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन ही किया और न तपस्या ही की। वह किसी प्रकार भिक्षा द्वारा अपनी जीविका प्राप्त कर लेता तथा शेष समय प्रमाद और आलस्य में नष्ट कर देता।

भिक्षा माँगता हुआ एक बार वह भील दस्युओं के गाँव में पहुँच गया। उन डाकुओं का सरदार दयालु और दानी था। ब्राह्मण को घर आया देख सरदार ने उसका स्वागत किया। उसने गौतम को भिक्षा में एक वर्ष के लिये पर्याप्त अन्न दे दिया। साथ ही एक मकान और एक तरुणी दासी भी सेवा के लिये दे दी।

गौतम उसी गाँव में रहने लगा। दुष्ट और मंदमति तो वह था ही, अब उसे क्रूर असभ्य भीलों का संग भी मिल गया। वह शीघ्र ही भीलों का मित्र हो गया। उसने उनसे धनुष आदि शस्त्रों का संचालन सीख लिया। वह भीलों के साथ वन को जाता, शिकार करता और मृत पशुओं का माँस खाता। क्रूर भीलों के साथ रहकर वह घोर तामसिक हो गया।

एक दिन उसी गाँव में भ्रमण करता हुआ एक परिव्राजक

पिछले पृष्ठ का शेषांश

थे, क्योंकि सुरेशचन्द्र दत्त, गुरुदास बर्मन तथा सत्यचरण मित्र आदि ठाकुर के प्रारम्भिक जीवनीकारों ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

९. गौरगोविन्द राय लिखित आचार्य केशव चन्द्र (पृ. ९६७) के अनुसार केशव चन्द्र २० दिसम्बर १८७२ को अपने उत्तर-पश्चिमी-भारत की यात्रा से लौटे। स्वामी दयानन्द ने माघोत्सव में भाग लिया और २ फरवरी १८७३ को गोराचाँद दत्त के घर पर 'ईश्वर तथा धर्म' विषय पर और ९ मार्च १८७३ को वराहनगर नाइट स्कूल में 'वैदिक सिद्धान्त' विषय पर व्याख्यान दिया। इसके पूर्व ही केशव चन्द्र टैगोर के उद्यान-भवन में जाकर दयानन्दजी से मिल चुके थे और वे केशव चन्द्र से मिलने आ चुके थे। केशव चन्द्र जनवरी १८७३ ई. के प्रारम्भ में ही दयानन्दजी से मिले होंगे और बहुत सम्भव है कि उसी दिन श्रीरामकृष्ण भी दयानन्दजी से मिलने गये हों।

१०. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ३५१। इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग में पृ. ७०५ पर हमें एक अन्य सन्दर्भ भी मिलता है, जहाँ श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "उस दिन केशव सेन के आने की बात थी। वह चातक की तरह उनके लिए तरस रहा था।" लगता है स्वामी दयानन्द के पास केशव चन्द्र का यह प्रथम आगमन था। तथापि श्रीरामकृष्ण उस अवसर पर केशव से नहीं मिल सके थे, जैसा कि स्वामी नित्यात्मानन्दजी ने उल्लेख किया है। (श्री म दर्शन, खण्ड ७, सं. १९९०, पृ. २४३-४४)

११. स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, नागपुर, द्वितीय खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ. ३२८

१२. अक्षय कुमार सेन, श्रीश्री रामकृष्ण पुँथी, ५म सं., पृ. १४७.

१३. स्वामी नित्यात्मानन्द, श्री म दर्शन, खण्ड ७, सं. १९९०, पृ. २४३-४४ तथा अक्षय कुमार सेन, वही, पृ. १४८

१४. Swami Ramakrishnananda : *Sri Ramakrishna and His Mission* (1910), Ramakrishna Math, Madras, p. 41.

१५. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. ७०२

१६. केशव सेन तथा स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों की तुलना करते हुए एक बार श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "ये (केशव) शायद होम और देवता नहीं मानते थे।" (वचनामृत, प्रथम भाग, पृ. ३५२)

१७. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, पृ. ३५२, द्वितीय, पृ. ७०५

१८. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. ७०५; दयानन्दजी का जप या ऐसी अन्य भक्ति-साधनाओं में विश्वास न था।

१९. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. ७५८

❖ (क्रमश:) ❖

ब्राह्मण आ पहुँचा। वह तपस्वी और सदाचारी था। उसने वेदादि शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। गाँव में आकर उसने भीलों से किसी ब्राह्मण का घर पूछा, क्योंकि वह तामसिक और क्रूर कर्म में लगे व्यक्तियों द्वारा दी गई भिक्षा ग्रहण नहीं करता था। भीलों ने उसे गौतम ब्राह्माण का घर दिखा दिया। परिव्राजक द्वार पर ठहर कर गौतम की प्रतीक्षा करने लगा। उस समय गौतम घर पर नहीं था। थोड़ी देर पश्चात् तपस्वी ने देखा कि एक व्यक्ति जो आकृति से भील नहीं प्रतीत होता, उसी घर की ओर आ रहा है। किन्तु यह क्या ! उस व्यक्ति के कंधे पर मरे हुये हंसों की लाशें टँगी हैं ! हंसों के रक्त से वह नहा-सा गया है। उसके हाथ में धनुष है, कमर में खड्ग लटक रहा है। इतनी देर में वह व्यक्ति कुछ और पास आ गया। परिव्राजक ने आश्चर्य चकित होकर उसे देखा। अरे ! यह तो उसके गाँव का ही ब्राह्मण कुमार गौतम है ! उसे गौतम की दशा देखकर बड़ा दुख हुआ। साथ ही उस मूढ़ के इस जघन्य क्रूर कर्म को देखकर उसे क्रोध भी आया। अब तक गौतम भी अपने घर के द्वार तक आ गया था। उसने भी तपस्वी परिव्राजक को पहिचान लिया, किन्तु उससे कुछ बोलने का उसे साहस न हुआ।

गौतम को देखकर परिव्राजक ने उसे धिक्कारते हुये कहा, ''दुर्बुद्धि गौतम ! ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी तुमने यह राक्षस-कर्म अपना लिया है। अपने साथ तुमने अपने कुल और सम्पूर्ण ब्राह्मण-वर्ण का नाम भी डुबा दिया। तुम्हें धिक्कार है।''

कुछ समय के लिये गौतम को भी अपनी हीन दशा पर बहुत दुख हुआ। उसने दुखित हृदय से अपने बालसखा से कहा, ''भाई, तुम तो जानते ही हो कि मैंने वेद शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया है। किसी गुरु की सेवा में भी नहीं गया, और न कोई तपस्या ही की है। मेरे पास जीविका का कोई साधन नहीं था, अत: धन के लिये भिक्षा माँगता हुआ मैं इस गाँव में आ पहुँचा। यहाँ के सरदार ने मुझे पर्याप्त धन दिया, रहने को घर दिया, सेवा के लिये दासी दी। इसलिये अब मैं इसी गाँव में रहने लगा हूँ।''

गौतम की बातों का परिव्राजक ने कोई उत्तर न दिया। गौतम के अत्यन्त आग्रह करने पर उसने रात्रि में गौतम के घर रहना तो स्वीकार कर लिया, किन्तु उसने उसके घर का एक बूँद जल भी ग्रहण न किया। प्रात: होते ही परिव्राजक अपनी यात्रा पर चल पड़ा। गौतम को भी अपनी दशा पर बड़ी ग्लानि हुई। उसने मन-ही-मन सोचा, यदि मुझे धन मिल जाये तो मैं इस क्रूर कर्म को छोड़कर आनन्दपूर्वक जीवन यापन कर सकता हूँ। ऐसा सोच वह अपनी शूद्र स्त्री और घर को छोड़ समुद्र तट की ओर धन प्राप्ति की आशा से चल पड़ा। मार्ग में उसकी भेंट व्यापारियों के एक यूथ से हो गई। वह उन्हीं के साथ हो लिया। जिस समय व्यापारियों का यह यूथ एक पहाड़ की तराई में विश्राम कर रहा था, हाथियों के एक दल ने उन पर आक्रमण कर दिया। कुछ व्यक्ति मारे गये और कुछ प्राण बचाकर भाग निकले। गौतम भी किसी प्रकार प्राण बचा कर भागा। उसके प्राण तो बच गये, किन्तु वह रास्ता भटक गया। भटकते हुये जंगल में उसे एक रास्ता दिख पड़ा। जंगल से बाहर निकलने की इच्छा से वह उसी रास्ते पर चल पड़ा। चलते-चलते वह वन के एक सुरम्य भाग में पहुँच गया। वहाँ की भूमि बालूकामय थी। सभी ओर हरियाली छाई हुई थी। भाँति-भाँति के फलों और पुष्पों के वृक्ष थे। वह सुरम्य स्थान देखकर गौतम बहुत प्रसन्न हुआ। वह थक गया था। विश्राम के लिये वह किसी घने वृक्ष की खोज करने लगा। उसकी दृष्टि एक विशाल घने बरगद के वृक्ष पर पड़ी। वह उसकी छाया में चला गया। सोने के लिये थोड़ा स्थान साफ किया और वहीं सो गया। जब उसकी नींद खुली तो दिन ढल चुका था। वह उठ बैठा। उसने देखा, चारों ओर पक्षी चहचहा रहे हैं। उसे भूख लग रही थी। उसकी दृष्टि सामने बरगद की डाल पर बैठे एक विशाल पक्षी पर पड़ी। पक्षी भी गौतम की ही ओर देख रहा था। गौतम सोचने लगा कि किस प्रकार मैं इस पक्षी को मार कर अपनी भूख मिटाऊँ।

गौतम मन-ही-मन इस कुटिल विचार में था कि उस पक्षी ने कहा, ''ब्रह्मन ! आपका स्वागत है। आप मेरे अतिथि हैं, यह घर मेरा है। मैं बगुलों का राजा राजधर्मा हूँ। आप कृपया मेरा अतिथ्य स्वीकार करें और आज रात्रि यहीं विश्राम करें।''

पक्षी की मधुर वाणी सुनकर गौतम को आश्चर्य हुआ। उसने पक्षी का आतिथ्य स्वीकार कर लिया और उससे कहा, ''पक्षीराज ! मैं बहुत भूखा हूँ। शीघ्र ही मेरे भोजन की व्यवस्था करो।''

राजधर्मा वहाँ से उड़कर तुरन्त एक नदी के तीर पर गया। उसने वहाँ से मोटी-मोटी मछलियाँ लाकर ब्राह्मण को दीं। पास ही के गाँव में जाकर वह आग ले आया। सूखी लकड़ियाँ एकत्र कर दीं। गौतम ने आग सुलगाई। मछलियों को भूना और राजधर्मा को बिना कुछ अंश दिये ही सारी मछलियाँ स्वयं खा गया।

राजधर्मा ने गौतम के लिये कोमल पत्तों और फूलों का बिछौना लगा दिया। जब वह भोजन कर बिस्तर पर बैठा, तब राजधर्मा ने उससे उसका परिचय-गोत्र आदि पूछा और उसकी यात्रा का प्रयोजन जानना चाहा। गौतम नाम और गोत्र के अतिरिक्त और कुछ न बता सका। अपनी यात्रा के प्रयोजन के सम्बन्ध में उसने कहा, ''पक्षीराज ! मैं धन के अभाव में बहुत दुखी हूँ। धन की खोज में मैं समुद्र तट की ओर जा रहा था। रास्ता भटक जाने के कारण मैं तुम्हारे घर आ पहुँचा हूँ।''

राजधर्मा ने उसे आश्वस्त करते हुये कहा, ''ब्राह्मण देवता, तुम धन की चिन्ता न करो। अब तुम्हें धन के लिये समुद्र-तट पर जाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ से थोड़ी दूर पर मेरुव्रज नाम का नगर है। वह मेरे परम मित्र राक्षसराज विरूपाक्ष की राजधानी है। वे बहुत उदार और दानी राजा हैं। मेरी प्रार्थना पर वे तुम्हें यथेष्ट धन दे देंगे। अत: अभी निश्चित होकर विश्राम करो।''

दूसरे दिन प्रात:काल शीघ्र ही गौतम ब्राह्मण राजधर्मा द्वारा बताये गये मार्ग पर चल पड़ा। सन्ध्या के पूर्व ही वह एक विशाल नगर के द्वारा पर पहुँच गया। वह नगर चारों ओर से ऊँची प्रचीरों से घिरा था। बलवान और भयंकर दिख पड़नेवाले राक्षणगण उसकी रक्षा में लगे थे। गौतम को देखकर द्वारपालों ने पूछा, ''तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? और किससे मिलना चाहते हो?''

भय मिश्रित स्वर में गौतम ने द्वारपालों से पूछा, ''क्या यही मेरुव्रज नगर है?''

एक द्वारपाल ने कर्कशस्वर में कहा, ''हाँ, यही मेरुव्रज नगर है।''

तब गौतम ने उसे बताया कि महाराज विरूपाक्ष के मित्र पक्षीराज राजधर्मा ने उसे उनके पास भेजा है।

सेवक ने जाकर राक्षसराज को गौतम का समाचार दिया। विरूपाक्ष की आज्ञा से गौतम को दरबार में उपस्थित किया गया। राजा ने उससे परिचय पूछा। स्वाध्याय, तप, गुरु आदि के विषय में पूछा। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के सम्बन्ध में पूछा। किन्तु मूढ़ गौतम अपने नाम और गोत्र के अतिरिक्त कुछ अधिक न बता सका। गृहस्थी के सम्बन्ध में उसने बताया कि उसकी स्त्री शूद्रजाति की है।

उस कुसंस्कारी नीच ब्राह्मण का परिचय पाकर राक्षसराज विरूपाक्ष को दुख हुआ। किन्तु गौतम को उसी के प्रिय सखा राजधर्मा ने उसके पास भेजा था, अत: उसने गौतम से उसके आने का प्रयोजन पूछा।

गौतम ने कहा, ''महाराज! मैं धन की खोज में भटक रहा था। भटकते-भटकते राजधर्मा के घर आ पहुँचा। उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है।''

लोभी गौतम की बात सुनकर विरूपाक्ष ने सेवकों को उसके ठहरने आदि की व्यवस्था करने का आदेश दिया। साथ ही उसने गौतम को दूसरे दिन ब्राह्मण-भोज में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दे धन देने का भी आश्वासन दिया।

दूसरे दिन सैकड़ों ब्राह्मण विरूपाक्ष के घर पधारे। सभी का उचित आदर सत्कार किया गया। सोने के पात्रों में सबको सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन परोसा गया। भोजन के पश्चात् वे स्वर्ण-पात्र भी ब्राह्मणों को दे दिये गये। साथ ही दक्षिणा में भी बहुत अधिक धन रत्न स्वर्ण आदि दिये गये। धन ले जाने में ब्राह्मणों को स्वतन्त्रता दे दी गई। लोभी गौतम ने लोभ के कारण बहुत-सा धन रत्न स्वर्ण आदि रख लिया। दक्षिणा लेकर ब्राह्मणों ने विरूपाक्ष को आशीर्वाद दिया और अपने-अपने गन्तव्यों की ओर चले गये। गौतम भी धन रत्न आदि का भारी बोझ लेकर उसी मार्ग पर चला, जहाँ पक्षीराज राजधर्मा का घर था। संध्या होते-होते वह पुन: राजधर्मा के घर पहुँच गया। पक्षीराज ने स्नेह और आदरपूर्वक उसका स्वागत किया। उसके भोजन-विश्राम आदि का प्रबन्ध किया। उसके लिये आग जला दी जिससे उसे रात्रि में शीत का कष्ट न हो। भोजन के पश्चात् जब गौतम विश्राम करने लगा, तो राजधर्मा भी उसके पास ही सो रहा। लोभी गौतम को धन की चिन्ता में नींद न आई। वह करवटें बदलता रहा। आधी रात बीत गई। उसने देखा कि राजधर्मा भी वहीं पास ही सो रहा है। उसे देखकर क्रूर गौतम की कुटिलता जागी। वह सोचने लगा। अभी मुझे इतने धन का भार लेकर लम्बी यात्रा करनी है। मार्ग में खाने के लिये मेरे पास कुछ भी नहीं है। क्यों न मैं इस बड़े पक्षी को मार कर इसका मांस भून कर अपने साथ रख लूँ? इतना मांस मेरे पास रहेगा तो मेरी यात्रा निश्चित कट जायेगी।

लोभ व्यक्ति को अंधा बना देता है। कुटिल गौतम कुसंस्कारी तो था ही। लोभ ने उसे और भी क्रूर बना दिया। वह यह भूल गया कि पक्षीराज की कृपा से ही उसके प्राण बचे थे, उसे धन प्राप्त हुआ था। उसने एक जलती हुई लकड़ी उठाई और विश्वासपूर्वक पास में सोये राजधर्मा की हत्या कर दी। उसे मारकर उसने उसके पंख आदि छीलकर वहीं फेंक दिये। उसके शव को आग में भून लिया। तब तक पौ फटने लगी थी। नीच गौतम धन और राजधर्मा का भूना हुआ शरीर लेकर शीघ्रतापूर्वक अपने गंतव्य की ओर चल पड़ा।

राजधर्मा का यह नियम था कि वह प्रतिदिन ब्रह्मा जी के दर्शन के लिये जाता और लौटते समय अपने मित्र विरूपाक्ष के घर ठहरकर उससे बातें करता और तब लौटकर अपने घर आता। किन्तु आज दोपहर हो गई, राजधर्मा विरुपाक्ष के महल में नहीं आया। संध्या भी हो गई, किन्तु पक्षीराज का कुछ पता न लगा। दूसरा दिन भी आ गया। राजधर्मा नहीं आया। अब विरूपाक्ष को चिन्ता होने लगी। मन में कुशंकायें उठने लगीं। उन्हें स्मरण हो आया कि क्रूर ब्राह्मण गौतम धन लेकर उनके मित्र राजधर्मा के घर की ओर गया था। मन में शंका हुई कि कहीं उस दुष्ट ने मेरे मित्र की हत्या तो नहीं कर दी। वे व्याकुल हो उठे। उन्होंने अपने पुत्र को बुलाया और उससे राजधर्मा को ढूँढ़ लाने के लिये कहा। राक्षसराज का पुत्र राक्षसों की सेना लेकर राजधर्मा की खोज में चल पड़ा।

जब वे लोग वहाँ पहुँचे तो देखा कि राजधर्मा जिस वृक्ष पर रहते थे वहाँ नीचे बहुत-सा पंख पड़ा है। जलाई गयी आग का अवशेष भी है। उन्हें यह निश्चय हो गया कि क्रूर गौतम ने राजधर्मा की हत्या कर दी है। राक्षसगण चारों दिशाओं में गौतम ब्राह्मण को पकड़ने के लिये दौड़ पड़े। उनके एक दल ने गौतम को पकड़ लिया। उसके पास पक्षीराज का भूना हुआ शव भी प्राप्त हुआ। विरूपाक्ष के पुत्र ने गौतम को बाँधकर अपने पिता के सामने उपस्थित किया। जब राजधर्मा की मृत देह उनके सामने लाई गई, तो वे फूट-फूटकर रोने लगे। मन कुछ हल्का होने पर उन्हें गौतम पर बहुत क्रोध आया। उन्होंने राक्षसों को आज्ञा दी कि इस दुष्ट की बोटियाँ उड़ा दो। रासक्षगण उस पर टूट पड़े और उसकी बोटियाँ उड़ा दी।

इधर विरूपाक्ष ने राजधर्मा की अन्त्येष्ठि का प्रबंध कर आया। चन्दन के काठ की चिता बनाई गई। राजधर्मा के मृत देह को रेशमी वस्त्रों से ढका गया। सुगंधित द्रव्यों का लेप किया गया। चिता पर उनकी मृत देह रख दी गई। भारी हृदय से विरूपाक्ष ने चिता में आग लगाई। उसी समय आकाश मार्ग से सुरभि धेनु जा रही थी। उसके मुँह से फेन युक्त की बूँदें राजधर्मा की मृत देह पर पड़ी। वे अमृत की बूँदें थी। राजधर्मा तुरन्त जी उठे और प्रेम पूर्वक अपने मित्र विरूपाक्ष से मिले। उस स्थान पर प्रज्वलित चिता और उपस्थित जनसमूह को देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने विरूपाक्ष से अपनी जिज्ञासा प्रकट की। राक्षसराज ने कृतघ्न गौतम की क्रूरता की सारी कहानी कह सुनाई और प्रसन्नतापूर्वक उसका वध करा देने की बात कही। किन्तु गौतम के वध की बात सुनकर राजधर्मा दुखी हुये।

उसी समय उस रास्ते में देवराज इन्द्र कहीं जा रहे थे। विरूपाक्ष, राजधर्मा आदि को एक स्थान पर एकत्रित देख वे भी वहाँ आ गये। सभी ने श्रद्धा पूर्वक देवराज को प्रणाम किया। उन्हें उचित आसन पर बिठाया। देवराज के पूछने पर विरूपाक्ष ने सारी घटना विस्तारपूर्वक उन्हें बतलायी। राजधर्मा के पुन: जीवन प्राप्त करने की बात सुनकर देवराज बड़े प्रसन्न हुये। उन्होंने राजधर्मा को अनेक आशीर्वाद दिया। किन्तु इन्द्र ने देखा कि राजधर्मा कुछ दुखी से प्रतीत हो रहे हैं। उन्होंने उन्हें अभय दान देते हुये पूछा, ''वत्स ! क्या कारण है कि पुनर्जीवन प्राप्त करके भी तुम प्रसन्न नहीं हो? कहो, तुम्हें क्या दुख है? मैं तुम्हारा कष्ट दूर कर दूँगा।''

राजधर्मा ने विनीत भाव से कहा, ''सुरराज, मुझे नवजीवन प्राप्त करके उतनी प्रसन्नता नहीं हो रही है जितना कि मुझे अपने मित्र गौतम की मृत्यु का दुख हो रहा है। यदि आप सचमुच मेरा दुख दूर करना चाहते हैं, तो कृपापूर्वक अमृत सींचकर मेरे मित्र को पुन: जीवित कर दीजिये।''

पक्षीराज की यह क्षमाशीलता ! यह उदारता ! ! हृदय की यह विशालता ! ! ! देखकर सभी का जी भर आया। देवराज गदगद् हो उठे। उन्होंने अमृत सींचकर गौतम को पुन: जीवित कर दिया। राजधर्मा बहुत प्रसन्न हुये। उन्होंने गौतम को गले से लगा लिया। विरूपाक्ष से कहकर उसे और अधिक धन दिलाया और आदर पूर्वक उसे बिदा दी। पक्षीराज की इस उदारता पर देवों ने दुन्दुभि बजाई और फूलों की वर्षा की।

प्रभु यीशू ने कहा था – ''यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे तो दूसरा भी उसकी ओर कर दो।''

यहूदियों ने जब उन्हें क्रूस पर लटका दिया, तब भी उन्होंने उनके कल्याण की ही प्रार्थना की थी। भगवान् महावीर के कान में बेल का काँटा ठोक देने वाले ग्वाले को उन्होंने क्षमा प्रदान कर दिया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती को काँच पीसकर पिलाने वाले रसोईये को उन्होंने केवल क्षमा ही नहीं किया, अपितु उसे धन देकर सुरक्षित स्थान में चले जाने का आग्रह किया।

संसार के सभी देश और काल के महापुरुषों की यही सीख है — बैर का बदला बैर से नहीं चुकाया जा सकता, बुराई को बुराई से नहीं मिटाया जा सकता, ईष्या-द्वेष को ईर्ष्या ओर द्वेष से नहीं जीता जा सकता।

बुराई को भलाई से, शत्रुता को मैत्री से, द्वेष को सहानुभूति से, क्रूरता को दया और क्षमा से ही निर्मूल किया जा सकता है। हमारी मानसिक शान्ति तभी भंग होती है, जब हम इस शाश्वत नियम के विपरीत कार्य करते हैं। हम शत्रु को शत्रुता से, कपटी को कपट से जीतना चाहते हैं। किन्तु परिणाम नितान्त विपरीत होता है। कपटी, क्रूर आदि को जीतने के प्रयास में हम स्वयं कपटी क्रूर और पापी हो जाते हैं। हमारा व्यक्तित्व विघटित और विक्षुब्ध हो जाता है।

यदि हम शान्ति और सुख चाहते हैं तो हमें अपना मार्ग बदलना होगा। दाँत के बदले दाँत और आँख के बदले आँख की नीति को त्यागकर प्रेम, दया, करुणा, आदि समत्व भावों के शाश्वत नियमों के अनुसार अपने व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण करना होगा। महाभारत की यह कथा चरित्र-गठन के एक मौलिक और शाश्वत नियम की घोषणा कर हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है। ❑❑❑

खेतड़ी आश्रम का विकास

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

खेतड़ी में दानस्वरूप प्राप्त हुए ये महल नाममात्र को ही महल रह गये थे, वस्तुत: वे करीब-करीब खण्डहरों में बदल चुके थे। इसकी पहली रिपोर्ट (१९५८-६४) के अनुसार ''भेंट में प्राप्त भवनों की भारी मरम्मत करानी पड़ी तथा उनमें आश्रम की जरूरतों के अनुरूप कुछ फेर-बदल भी इस प्रकार किये गये, ताकि वह मिशन द्वारा उपयोग में लाया जा सके। इस मरम्मत में करीब दो वर्ष लग गये, जिसके फलस्वरूप आश्रम की नियमित गतिविधियाँ १९६१ में ही शुरू हो सकीं। उस समय इस भवन की सबसे ऊपरी मंजिल पर, जिस कमरे में स्वामी विवेकानन्दजी ने निवास किया था, वहाँ एक मन्दिर की स्थापना की गयी। उसमें परमहंस देव, माँ सारदा तथा स्वामीजी के चित्र रखे गये। इस मन्दिर की स्थापना के साथ-साथ अन्य गतिविधियों का यथा – सप्ताह में एक बार भजन-कीर्तन का आयोजन, गीता पर कक्षाएँ तथा धार्मिक प्रवचनों का आयोजन भी शुरू हुआ। इन आयोजनों की जिम्मेदारी वैद्य श्री सन्तकुमार ओझा को सौंपी गयी, जिन्होंने बड़ी रुचि लेकर यह जिम्मेदारी निभाई।''

वैद्य श्री सन्तकुमार ओझा इस आश्रम के शुरू के दिनों के अपने संस्मरणों में लिखते हैं – ''वह एक उजाड़ भवन था, जिसमें कहीं दरवाजा नहीं था, जिसके कारण हर कोई कभी भी इसमें आ-जा सकता था। सबसे ऊपरी छत पर कबूतरों और निचली मंजिल पर गाय, कुत्तों तथा गधों का राज्य था। जब यहाँ आश्रम शुरू किया गया, तो हमारा सबसे पहला काम था – इस जगह को रहने के लायक बनाना। निचली मंजिल में सब जगह दरवाजे तथा खिड़कियाँ लगायी गयीं, ताकि दरबार-हॉल का संरक्षण हो सके। जिस कमरे में स्वामीजी ठहरे थे; उसे साफ करके वहाँ ठाकुर, माँ तथा स्वामीजी के चित्र रखे गये। उनकी नियमित पूजा तो नहीं हो पाती थी, परन्तु प्रतिदिन वहाँ अगरबत्तियाँ जलाकर फूल चढ़ाये जाते थे। हर रविवार के दिन निचली मंजिल में हम सब मिलकर भजन गाया करते थे। इसके अलावा (तत्काल) अन्य कोई गतिविधियाँ शुरू करना सम्भव नहीं था, क्योंकि दरबार-हॉल की मरम्मत अभी नहीं हो सकी थी। वैसे उसी हॉल के एक कोने में झाबरमल जी ने एक छोटा-सा ऑफिस बना लिया था। वे अपने जसरापुर गाँव से वहाँ प्रतिदिन सुबह करीब १०-११ बजे आ जाते थे। सारा दिन वहीं व्यतीत करने के बाद शाम को घर वापस लौट जाते थे। किसी-किसी दिन वे वहाँ रात को भी ठहर जाया करते थे। दूसरी तथा तीसरी मंजिल पर कुछ कमरे थे, लेकिन वह हिस्सा काफी उजाड़ तथा सूनसान था। 'जनानी-ड्योढ़ी' वाले हिस्से में राजस्थान सरकार की ओर से एक तकनीकी संस्थान (आई.टी.आई.) खोला गया। आश्रम की व्यवस्थापिका-समिति के सदस्य प्राय: एकत्र होकर इस मुद्दे पर चर्चा करते कि दरबार हॉल को किस प्रकार ठीक कराकर उपयोगी बनाया जाय।

''श्री झाबरमलजी ने काफी लोगों से सम्पर्क स्थापित किया और बेनीशंकरजी ने भी लोगों से चन्दा एकत्र करना आरम्भ किया। सबसे पहले दरबार-हॉल का फर्श ठीक किया गया और फिर दीवारों पर सफेदी की गयी। बेनीशंकरजी ने कालीन भिजवाये। उस समय बहुत थोड़े लोगों के आने के कारण रौनक नहीं थी। परन्तु वहाँ के स्थानीय लोगों में से इस भावधारा में विश्वास रखनेवाले भक्तों का एक समुदाय नियमित रूप से आश्रम में आता था। उन लोगों ने आश्रम को सही रूप देने के लिये कड़ी मेहनत की। लेकिन रात के समय वहाँ आश्रम में कोई रुकता नहीं था। जब स्वामी शिवात्मानन्दजी यहाँ आये, तो वे दूसरी मंजिल पर दक्षिण दिशा की ओर के एक कमरे में रहने लगे। उन्होंने आश्रम की गतिविधियाँ चलाने में स्वामी विश्ववेदानन्दजी की काफी मदद की। बाद में वे लोग तीसरी मंजिल पर बीच वाले कमरे में रहने लगे। इस दौरान सप्ताह में एक बार होने वाला भजन-कीर्तन दरबार-हॉल में न होकर अब मन्दिर में होने लगा। हम लोग छत पर मीटिंग किया करते थे।

''राजा द्वारा खेतड़ी तथा चिड़ावा में चलाये जानेवाले मैटर्निटी होम्स (जच्चा-बच्चा अस्पताल) भी रामकृष्ण मिशन को सौंप दिये गये। इनके विषय में रिपोर्ट में कहा गया है – 'यद्यपि इन दोनों संस्थानों को चालू रखने के हालात नहीं थे,

फिर भी इस केन्द्र की प्रबन्ध-समिति ने उन्हें चालू रखने का निर्णय लिया। ... जनवरी १९६२ में उसे (चिड़ावा के अस्पताल को) बन्द कर दिया गया।'

''पं. झाबरमल शर्मा प्रतिदिन पैदल चलकर जसरापुर से खेतड़ी आते। आश्रम में सारा दिन व्यतीत करते, खाना भी स्वयं पकाते। यह सिलसिला १९५८ से १९६४ तक चलता रहा। वे पहली मंजिल पर मैदान की ओर वाले कमरे में रहते थे। बाद में वह मैदान बस-अड्डे में परिवर्तित किया गया।''

स्वामी रंगनाथानन्दजी तथा मिशन के अन्य संन्यासी प्राय: ही वहाँ आकर विभिन्न सभाओं में भाग लेते तथा प्रवचन भी दिया करते। इन आगन्तुक संन्यासियों में प्रमुख थे – स्वामी शुद्धसत्त्वानन्दजी, स्थितानन्दजी, सारदेशानन्दजी, एकात्मानन्दजी, आदिभावानन्दजी, मुख्यानन्दजी, कृष्णानन्दजी, अकामानन्दजी, विश्ववेदानन्दजी आदि। २३ अप्रैल, १९६२ को रामकृष्ण मठ तथा मिशन के तत्कालीन अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी माधवानन्दजी महाराज, स्वामी अभयानन्दजी, दयानन्दजी तथा गौरानन्दजी के साथ खेतड़ी पधारे।[१]

राज्यपाल श्री सम्पूर्णानन्द द्वारा खेतड़ी आश्रम का औपचारिक उद्घाटन

खेतड़ी के उपरोक्त 'विवेकानन्द स्मृति मन्दिर' की गतिविधियाँ धीरे-धीरे आरम्भ हुईं, परन्तु अब भी इसका औपचारिक रूप से उद्घाटन नहीं हो सका था। इसमें और भी दो वर्ष लग गये। उद्घाटन-विधि विवेकानन्द जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में राजस्थान के राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्दजी द्वारा सोमवार, ११ नवम्बर १९६३ ई. को सम्पन्न हुई। रणवीर सिंहजी उन दिनों की याद करते हुए कहते हैं – ''राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल डॉक्टर सम्पूर्णानन्दजी ने इस उद्घाटन-समारोह की अध्यक्षता की। भवन के पासवाले मैदान में, जहाँ अब बस-अड्डा है, एक भव्य शामियाना लगाया गया था।... उस समारोह के लिये करीब ४-५ हजार लोग एकत्र हुए थे। (कार्यक्रम हेतु) तीसरी मंजिल की छत का नवीनीकरण किया गया था। कमरों में भी कुछ फेर-बदल किये गये थे, ताकि वे रहने योग्य हो सकें। वर्तमान रसोईघर तथा शौचालय उस समय नहीं थे। उस मंजिल के कोनों में दीवारें खड़ी करके कमरे तथा शौचालय बनाये गये। रानी का कमरा आज भी उन्हीं दिनों की तरह है। राजा का कमरा आज भी लगभग वैसे ही है, सिर्फ दीवारों में कुछ लकड़ी की आलमारियाँ बनवाई गयी हैं। दरबार-हॉल के पिछले हिस्से में स्थित कोषागार भी पहले जैसा ही है। वहाँ सिर्फ सफाई की गयी थी। राजमाता चन्द्रकुमारीजी द्वारा भेंट की गयी आलमारियाँ वाचनालय में आज भी विद्यमान हैं। उन्होंने बहुत-सी पुस्तकें भी भेंटस्वरूप दीं। आश्रम के प्रांगण के चारों ओर न तो कोई दीवार थी और न ही कोई मुख्य द्वार। इस कारण यह एक आम रास्ता जैसा बन गया था।... इससे आश्रम का पवित्र वातावरण दूषित-सा होने लगा। स्वामी पूज्यानन्दजी ने प्रांगण को चहारदीवारी से घेरा तथा मुख्य द्वार भी बनवाया।[२]

उद्घाटन कार्यक्रम में आश्रम की प्रबन्ध-समिति के सदस्य श्री मुरलीधर शर्मा द्वारा संस्कृत में रचित 'श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-वन्दना' की आवृत्ति की गयी, जो इस प्रकार है –

सर्वधर्म-समन्वेता ब्रह्मविन्मातृभाववान्।
त्यक्त कामार्थ-संसर्गो रामकृष्णो जयत्यलम् ।।१।।

– उन श्रीरामकृष्ण देव की जय हो, जिन्होंने काम तथा धन से संसर्ग का त्याग कर दिया था और जो ब्रह्मज्ञानी होकर भी जगदम्बा के भावों में विभोर रहते थे।

सदृष्टान्तं युक्तियुक्तं सरलं शान्तिदं सुखम्।
संशयघ्नं हितं हारि रामकृष्ण-वचोऽमृतम् ।।२।।

– उनका वचनामृत दृष्टान्तों से पूर्ण, युक्ति से युक्त, सरल, शान्तिप्रद, सुखरूप, संशय-नाशक, हितकर एवं मनोहारी है।

शान्ति-प्रेमाग्रदूताय विश्व-कल्याण-कामिने।
गुरु-सन्देशमाश्रित्य धर्म-मर्म-प्रकाशिने ।।३।।

– जो शान्ति तथा प्रेम के अग्रदूत हैं, जो विश्व-हित के आकांक्षी हैं, जिन्होंने अपने गुरुदेव के सन्देश के आधार पर समस्त धर्मों का तात्पर्य प्रकट किया;

देशभक्ताय वीराय दारिद्र्याज्ञान-नाशिने।
विवेकानन्द यतय आत्मज्ञाय नमो नमः ।।४।।

– उन देशभक्त, वीर, दरिद्रता एवं अज्ञान के नाशक, आत्मज्ञानी यती विवेकानन्द को बारम्बार प्रणाम है।

ब्रह्मनिष्ठं महात्मानं धर्म-संस्थापनोद्यतम्।
परिव्राजक-राजं तं प्रीत्यावयमुपास्महे ।।५।।

– ब्रह्मनिष्ठ महात्मा, धर्म की स्थापना में उद्यत हैं, परिव्राजकों के सम्राट् (स्वामीजी) को हम प्रीतिपूर्वक प्रणाम करते हैं।

रामकृष्णं परमहंसं विवेकानन्द योगिनम्।
सर्व-लोकोपकर्तारौ भूयोभूयो नमाम्यहम् ।।६।।

– समस्त लोकों के उपकारी योगियों परमहंस श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द को हम बारम्बार प्रणाम करते हैं।

इस अवसर पर किशनगढ़ के डॉ. बोस की तीन पुत्रियों ने 'प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो' भजन भी गाया था।

आश्रम के उपाध्यक्ष श्री वेणीशंकर शर्मा ने उक्त अवसर पर महामान्य राज्यपाल श्री सम्पूर्णानन्दजी, विवेकानन्द-शताब्दी महोत्सव के सचिव स्वामी सम्बुद्धानन्दजी, राजाबहादुर सरदार सिंहजी तथा अन्य अभ्यागतों का स्वागत करते हुए स्वामी विवेकानन्द के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की, उनके खेतड़ी से घनिष्ठ सम्बन्ध का वर्णन किया और अन्त में उक्त परियोजना पर प्रकाश डालते हुए कहा – ''स्वामीजी के अपने स्थान

१. रामकृष्ण मिशन, खेतड़ी की स्मारिका १९९३, पृ. १८-१९

२. वही (खेतड़ी की स्मारिका – १९९३), पृ. १९-२०

'खेतड़ी' में स्वामीजी की स्मृति की याद दिलाने वाले किसी स्मारक का न होना, एक दुर्भाग्य ही नहीं, अपितु खटकने वाली बात भी थी। किन्तु मैं राजस्थान के वयोवृद्ध साहित्यिक एवं अपने पूजनीय मित्र पं. झाबरमलजी शर्मा को किन शब्दों में धन्यवाद दूँ, जिनकी प्रेरणा एवं सतत चेष्टा का ही यह फल है कि आज हम इस स्मारक की स्थापना करने में सफल हो सके हैं।... पण्डितजी की लगन का अन्दाज तो आप इसी एक बात से लगा सकते हैं कि वे अपनी ७५ वर्ष की आयु में युवकों से भी अधिक उत्साह के साथ रामकृष्ण मिशन की हमारी इस शाखा का भार अपने वृद्ध किन्तु सबल कन्धों पर उठाये हुए हैं।... पूर्वपुरुषों का स्थान होने के कारण आये दिन मुझे खेतड़ी आने का अवसर मिला करता है और जब मैं खेतड़ी आता हूँ, तो पण्डितजी का दर्शन करना उनका सान्निध्य प्राप्त करना मेरे अनिवार्यों में से एक होता है। कुछ वर्षों पहले की बात है, मैं ऐसे ही किसी अवसर पर खेतड़ी आया हुआ था। पण्डितजी का साथ होना अनिवार्य था। बातों-ही-बातों में स्वामीजी के सम्बन्ध की चर्चा चल पड़ी और इस स्थान पर उनका कोई स्मारक न होना हमें उस दिन जितना खटका, उतना शायद कभी नहीं खटका था। मैंने पण्डितजी से प्रार्थना की कि वे वर्तमान खेतड़ी-नरेश राजा सरदार सिंहजी बहादुर से मिलकर स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करें; और मैं कलकत्ते में मिशन के अधिकारियों से मिलकर यहाँ मिशन की शाखा स्थापित कराने का प्रयत्न करूँ। शुभ कार्यों का मार्ग भगवान स्वयं प्रशस्त करते हैं। इधर राजा बहादुर ने बड़ी सहृदयता के साथ पण्डितजी की बातें सुनीं और अपना प्राचीन राजप्रसाद, जिसकी कीमत आज लाखों की है और जिसका कोना-कोना किसी समय स्वामीजी के चरणारविन्दों से पवित्र हो चुका है, अपने प्रपितामह महाराज अजीतसिंह और स्वामीजी के सम्बन्ध को पुनर्जीवित करने के लिये स्मारक बनाने हेतु देने का आश्वासन देकर अपनी महान् उदारता का परिचय दिया। उधर मिशन के तत्कालीन प्रेसीडेंट स्वामी शंकरानन्दजी महाराज तथा तत्कालीन महासचिव स्वामी माधवानन्दजी महाराज ने इस स्थान का महत्त्व स्वीकार करते हुए यहाँ मिशन की एक शाखा स्थापित करने की आज्ञा प्रदान की और इस प्रकार खेतड़ी को अपने अंचल में प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संस्था रामकृष्ण मिशन की राजस्थान में होनेवाली प्रथम शाखा स्थापित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ,... जिसके तत्त्वावधान में हम आज इस स्मृति-मन्दिर की स्थापना कर रहे हैं।... आज रामकृष्ण मिशन के तत्त्वावधान में राजाजी बहादुर द्वारा प्रदत्त यह विशाल राजप्रासाद 'विवेकानन्द-स्मृति-मन्दिर' में परिणत किया जा रहा है। यह प्रासाद इतना बड़ा है कि हमारा प्राय: एक वर्ष का समय तो इसकी मामूली मरम्मत में ही लग गया। इसके भीतर हॉल में हमने स्वामीजी की ध्यानमग्न मुद्रा की एक प्रस्तर प्रतिमा स्थापित की है तथा बाहर चौक में महाराज अजीतसिंह बहादुर की। अब मैं महामान्य राज्यपाल श्री सम्पूर्णानन्दजी से प्रार्थना करूँगा कि वे अपने कर-कमलों द्वारा स्मृति-मन्दिर और स्वामीजी तथा राजाजी की प्रतिमाओं का उद्घाटन कर हमें कृतार्थ करें।''[३]

खेतड़ी आश्रम में साधु-सन्तों का आगमन

स्वामी रंगनाथानन्दजी (१९५९-६२) तथा स्वामी स्वाहानन्द (१९६२-६८) रामकृष्ण मिशन दिल्ली के सचिव के रूप में खेतड़ी आश्रम के अध्यक्ष भी रहे। उन्होंने इस उदीयमान केन्द्र के कार्य में रुचि दिखाई तथा सतत मार्गदर्शन करते रहे। मिशन के अन्य कई संन्यासी भी खेतड़ी में आकर सत्संग तथा प्रवचन करते थे। रणवीर सिंहजी बताते हैं – १९५९ ई. में स्वामी सारदेशानन्दजी खेतड़ी आये और महल में निवास की कोई व्यवस्था न होने के कारण श्री महेशचन्द्र शर्मा के मकान पर ही ठहरे। वे यहाँ करीब छह महीने रहे। १९६० ई. में स्वामी शिवात्मानन्दजी आये। वे महल की ऊपरी मंजिल पर रहते थे। वे पास की ही एक दुकान से भोजन मँगा लेते। उन्होंने धीरे-धीरे स्थानीय लोगों से सम्पर्क स्थापित करना आरम्भ कर दिया था।

तदुपरान्त स्वामी विश्ववेदानन्दजी का खेतड़ी आश्रम के सचिव के रूप में आगमन हुआ। उन्होंने अपने कार्यकाल के दौरान बच्चों के लिये वाचनालय तथा पार्क का निर्माण कराया। उसी समय खेतड़ी आश्रम का पहला राहत कार्य भी सम्पन्न हुआ। एक भयानक आग-दुर्घटना में कोलिहान के ८० परिवार बेघर हो गये थे। उन्हें आश्रम में आश्रय देकर उनके भोजन-वस्त्र तथा चिकित्सा की सुविधा दी गयी।

स्वामी मुख्यानन्दजी ने शिक्षा तथा धर्म-प्रचार के कार्य पर बल दिया। पाँचवीं तक के छात्रों की संख्या २७८ हो गयी। १९७२ में खेतड़ी तथा पिलानी के विभिन्न स्कूलों के विद्यार्थियों के लिये एक बाल-मेला आयोजित किया गया, जिसमें अनेकों प्रकार के कार्यक्रम तथा स्पर्धाएँ हुईं।

२३ फरवरी, १९७३ को रामकृष्ण मठ तथा मिशन के दशम अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी खेतड़ी पधारे। २५ फरवरी को २१ भक्तों ने उनसे मंत्रदीक्षा प्राप्त किया। उसी दिन शाम को उन्होंने धर्मोपदेश तथा आशीर्वाद प्रदान किया। अगले दिन सुबह वे दिल्ली के लिये रवाना हुए।

१९७८ ई. में जयपुर के रामकृष्ण-विवेकानन्द समिति के प्रांगण में एक 'युवा-सम्मेलन' हुआ, जिसमें ३८५ युवाओं ने भाग लिया। सम्मेलन को स्वामी रंगनाथानन्दजी, स्वामी आत्मानन्दजी तथा स्वामी स्मरणानन्दजी ने सम्बोधित किया।

३. जसरापुर निवासी पं. श्यामसुन्दरजी शर्मा के सौजन्य से प्राप्त

१९८२ ई. के २५ अक्तूबर से ८ नवम्बर तक श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी ने राजस्थान के भीलवाड़ा, चित्तौड़गढ़, नाथद्वारा तथा उदयपुर आदि विभिन्न नगरों का दौरा किया। २८ अक्तूबर को वे जयपुर होते हुए खेतड़ी पहुँचे।

जयपुर में रामकृष्ण मिशन

सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश न्यायमूर्ति पी.एन. सिंहल, स्वामी पूज्यानन्दजी तथा डॉ. ओंकार सक्सेना के प्रयासों से १९७८ ई. में जयपुर में रामकृष्ण-विवेकानन्द-समिति की स्थापना हुई। १९८८ ई. में उसे रामकृष्ण मिशन के एक शाखा-केन्द्र के रूप में बेलूड़ मठ की व्यवस्था में ले लिया गया। इस समय इस संस्था के द्वारा दैनिक पूजा-भजन, दातव्य चिकित्सालय, ग्रन्थालय तथा वाचनालय आदि अनेक जनहित की गतिविधियाँ चलायी जा रही हैं।

प्रमुख स्व-प्रशासी संस्थाएँ

अजमेर – १९४४ ई. में स्वामी आदिभवानन्दजी ने आदर्श नगर में 'श्रीरामकृष्ण आश्रम' की स्थापना की।

बीकानेर – १९४९ ई. में स्वामी जपानन्दजी की प्रेरणा से 'रामकृष्ण कुटीर' की स्थापना।

बीकानेर – १९९२ ई. में 'विवेकानन्द समिति' का गठन तथा 'श्रीरामकृष्ण आश्रम' की स्थापना।

किशनगढ़ – १९६० में मदनगंज मुहल्ले में डॉ. सत्य कुमार बोस ने 'विवेकानन्द आश्रम' आरम्भ किया।

स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी

१९६३ ई. स्वामीजी की जन्म-शताब्दी वर्ष था। राजस्थान के विभिन्न स्थानों पर इसे बड़े धूमधाम से मनाया गया। कुछ समाचार-पत्रों में प्रकाशित विवरण हमें स्वामी तत्परानन्दजी के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। विवरण के तथ्यों में कहीं-कहीं भूल होने पर भी हम इन्हें यथावत् प्रस्तुत करते हैं –

राज्यपाल सम्पूर्णानन्द जी का सन्देश
(२० जनवरी १९६३; अमर उजाला, जयपुर)

राजस्थान के राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द ने स्वामी विवेकानन्द शताब्दी समारोह, जो देश भर में १७ जनवरी को मनाया गया, के अवसर पर अपने एक सन्देश में बताया :

"स्वामी विवेकानन्द भारतीय नव-जागरण के महान् नेता थे। उन्होंने अपने भाषणों व लेखनी से भारत की आध्यात्मिक परम्परा की युक्तिसंगत व्याख्या प्रस्तुत की और संसार को दिखा दिया कि हिन्दू धर्म सार्वभौमिक तथा लोकतांत्रिक है। उन्होंने यह भी बताया कि कर्म ही आराधना है और यह निर्देश किया कि हमें मानव में व्याप्त परमात्मा की सेवा करके ही मुक्ति प्राप्त करनी है। इन महान् शिक्षक को श्रद्धांजलि अर्पित करने का सर्वोत्तम ढंग रचनात्मक कार्य एवं बिना भेदभाव के सेवा करने के उनके आदर्शों का अनुसरण करना ही है। मैं आशा करता हूँ कि यह शताब्दी समारोह स्वामीजी की आकाक्षांओं के अनुसार लोगों में देशसेवा की नई भावना जागृत करेगा।"

अजमेर – राज्यपाल द्वारा उद्घाटन

AJMER – Dr. Sampurnananda, the Governor of Rajasthan, inaugurated the five-day long celebrations. Symposiums and lectures on the life and teachings of Swamiji were organized in the different colleges. Two important roads, one in Ajmer and the other in Jaipur, have been renamed 'Vivekananda Marg. (PRABUDDHA BHARATA, December 1963)

विवेकानन्द जन्म शताब्दी
खेतड़ी व अलवर में आयोजित
(राष्ट्रदूत, जयपुर, २२ जनवरी १९६३)

जयपुर, २० जनवरी। झुंझनू से लगभग ४५ मील दूर खेतड़ी स्थित विवेकानन्द स्मृति मन्दिर में रामकृष्ण मिशन के तत्त्वावधान में स्वामी विवेकानन्द जन्म शताब्दी का त्रिदिवसीय समारोह सम्पन्न हुआ।

खेतड़ी के भूतपूर्व शासक श्री अजीतसिंह पर स्वामीजी का विशेष स्नेह था। आप अमरीका जाने से पूर्व खेतड़ी में उनके मेहमान रहे थे। उनके महल के एक भाग में ही रामकृष्ण मिशन संचालित है।

विशेष पूजा और अखंड कीर्तन से आरम्भ हुए इस समारोह में कल विद्याविहार पिलानी के श्री एस.डी. पाण्डे की अध्यक्षता में लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रो. मित्रा एवं प्रो. शर्मा ने स्वामीजी के जीवन और उनकी शिक्षाओं के सम्बन्ध में भाषण किये।

जिला जन-सम्पर्क कार्यालय झुंझनू की ओर से जनता को मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद फिल्में भी दिखायी गयीं।

इसी प्रकार अलवर में स्थानीय संस्कृत कॉलेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्री शम्भुदत्त शास्त्री की अध्यक्षता में स्वामी विवेकानन्द जन्म शताब्दी समारोह मनाया गया। इस अवसर पर विभिन्न वक्ताओं के प्रेरणाप्रद भाषण हुए।

स्वामी विवेकानन्द खेतड़ी जाते समय ८ सप्ताह के लिये अलवर भी ठहरे थे।

स्वामी विवेकानन्द शताब्दी समारोह
बीकानेर में स्तुत्य प्रयास
(वर्तमान, बीकानेर, २१ जनवरी १९६३)

बीकानेर – स्वामी विवेकानन्द जन्म शताब्दी समारोह तथा शिला रोपण समिति का यहाँ गठन किया गया है। इस समिति का सम्बन्ध मद्रास में गठित अखिल भारतीय समिति से होगा। यह समिति कन्याकुमारी के सामने समुद्र में 'विवेकानन्द चट्टान' पर चौबीस फीट की एक कांस्य प्रतिमा

प्रतिष्ठापित करने एवं किनारे से इस चट्टान तक पहुँचने को एक पुल बनाने के लिये धन-संग्रह का कार्य भी करेगी।

इस समिति के स्थानीय पदाधिकारियों में सर्वश्री स्वामी सोमेश्वरानन्द भारती जी – अध्यक्ष, पं. विद्याधर शास्त्री – उपाध्यक्ष, श्री गेवरचन्द जोशी – मंत्री, श्री गिरधरलाल पुरोहित – उपमंत्री, श्री शिवचन्द अरोड़ा – कोषाध्यक्ष का कार्य करेंगे। सदस्यों में – श्री अनन्तलाल व्यास (भूतपूर्व एकाउन्टेंट जनरल (राजस्थान), श्री गदाधर शास्त्री (प्रधानाचार्य, शार्दुल संस्कृत विद्यापीठ), श्री ठाकुरदास, पं. नथमल ओझा, श्री नारायणदास, एम.ए., श्री रमनलाल, एम.एस.सी., श्री रामदेव आदि के नाम हैं।

विवेकानन्द द्वारा जगाई गई आध्यात्मिक चेतना युगों तक मार्गदर्शन करती रहेगी
राज्य के विभिन्न स्थानों पर शताब्दी समारोह सम्पन्न
(लोकवाणी, जयपुर – २४ जनवरी १९६३)

जयपुर, २३ जनवरी। राज्य के कोने कोने में स्वामी विवेकानन्द जन्म शताब्दी समारोह धूमधाम से मनाया गया। जगह जगह सभाएँ आयोजित की गईं, जिनमें वक्ताओं ने स्वामीजी की आध्यात्मिक चेतना पर प्रकाश डाला।

अजमेर

गत २० जनवरी को सायंकाल गांधी भवन में विवेकानन्द जन्म शताब्दी के उपलक्ष में एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। आयोजन की अध्यक्षता राजस्थान जनसेवा आयोग के अध्यक्ष श्री वी.वी. नार्लीकर ने की। गोष्ठी में स्थानीय रामकृष्ण आश्रम के संचालक स्वामी आदिभवानन्द, मदार सेनेटोरियम की डॉ. मिसेज हाल, श्री रऊफ तथा श्री दुर्गाप्रसाद चौधरी आदि ने भाग लिया और स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर प्रकाश डाला।

चिड़ावा

गत बृहस्पतिवार को स्थानीय विवेकानन्द शिला स्मारक समिति की ओर से श्री श्याम नारायण सिन्हा की अध्यक्षता में यहाँ स्वामी विवेकानन्द जयन्ती शताब्दी के उपलक्ष में एक सभा का आयोजन किया गया।

सभा में भाषण करते हुए स्थानीय कालेज के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पं. बिहारी लाल अरड़ावतिया ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द द्वारा जगाई गई आध्यात्मिक चेतना युगों तक हमारा मार्गदर्शन करती रहेगी।

राष्ट्रीय विद्यालय चिड़ावा में भी शिक्षक प्रशिक्षणालय चिड़ावा के प्रधानाचार्य श्री कन्हैया लाल तिवाड़ी की अध्यक्षता में स्वामी विवेकानन्द जयन्ती शताब्दी के उपलक्ष में सभा हुई, जिसमें विद्यालय के अध्यापक श्री रामनिवास शर्मा ने स्वामीजी के जीवन एवं शिक्षाओं पर प्रकाश डाला। अध्यक्ष पद से श्री तिवाड़ी ने स्वामीजी के कार्यों से प्रेरणा ग्रहण कर उनके अधूरे कार्य को पूर्ण करने की अपील की।

झुंझुनू

गत बृहस्पतिवार को यहाँ सेठ मोतीलाल कालेज परिषद् के तत्त्वावधान में कालेज के प्रांगण में प्रो. नाथूराम की अध्यक्षता में स्वामी विवेकानन्द जन्म शताब्दी समारोह मनाया गया। इस अवसर पर वक्ताओं ने स्वामीजी के जीवन एवं शिक्षाओं पर प्रकाश डाला।

स्थानीय सेठ मोतीलाल हाई स्कूल में भी समारोह का आयोजन हुआ, जिसमें भाषण करते हुए श्री सांवर मल वर्मा वकील ने कहा कि स्वामीजी युगपुरुष थे। उनके कार्यों से प्रेरणा लेकर हमें अपने जीवन का निर्माण करना चाहिये।

सवाई माधोपुर

गत बृहस्पतिवार को जिले में कई स्थानों पर विवेकानन्द जन्म शताब्दी समारोह मनाया गया। सवाई माधोपुर में शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय, राजकीय उच्चतर विद्यालय तथा साहूनगर विद्यालय में यह समारोह मनाया गया। इस अवसर पर वक्ताओं ने स्वामीजी के जीवन-दर्शन पर विचार व्यक्त करते हुए आज के संकटकाल में उनकी चेतावनी की सत्यता तथा उनके उपदेशों के परिपालन की जरूरत पर प्रकाश डाला।

अलवर

खेतड़ी आने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने अलवर में ७ सप्ताह का प्रवास किया तथा उस समय के महाराजा श्री मंगलसिंह को, जो मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते थे, अपने निर्भीक विचारों तथा ओजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित किया। आपने यहाँ के दर्शनीय स्थान पांडुपोल, नीलकंठ, तिलवेश्वर आदि देखे तथा एक रात्रि पांडुपोल में व्यतीत की।

यहाँ स्थानीय टाउन हाल में श्री शम्भुदत्त शास्त्री भूतपूर्व प्रिंसिपल संस्कृत कॉलेज, अलवर की अध्यक्षता में मनाई गई। स्वामी विवेकानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर प्रोफेसर श्री ओम प्रकाश दरगन का भाषण हुआ। अन्य विद्वान् वक्ताओं ने भी स्वामी विवेकानन्द के जीवन दर्शन एवं कृतित्व पर अपने विचार प्रकट किये तथा जनता से स्वामीजी द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करने का अनुरोध किया।

राजस्थान में मिशन के राहत कार्य

उपरोक्त गतिविधियों के अतिरिक्त विभिन्न प्राकृतिक आपदाओं के समय मिशन के खेतड़ी तथा जयपुर केन्द्रों के माध्यम से राहत-कार्य भी चलाये जाते रहे हैं। ❑❑❑

J J J J J J J J J J J J J J J J J J J J J J

स्वाभिमान के वास्ते

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है उनकी एक और प्रेरक कथा। – सं.)

बिशेसर बहुत वर्षों बाद बम्बई से राजस्थान अपने गाँव आया था। साथ में पत्नी और बच्चा भी था। दो-तीन नौकर-दाई भी थे। बहुत बड़ा कारोबार छोड़कर, १०-१५ दिनों के लिये वह आता तो नहीं, परन्तु बच्चा वर्षों बाद हुआ था। उसके मुण्डन की मनौती थी – सालासर के हनुमानजी की। पत्नी बहुत बार याद दिला चुकी थी, इसीलिये आना पड़ा। गाँव में उसके मामा-मामी थे, जिन्होंने उसे पाल-पोसकर और पढ़ा-लिखाकर होशियार किया था, अत: उसने अपनी सूनी हवेली में न रुककर ननिहाल में ही ठहरना उचित समझा।

बम्बई के अपने कारोबार में उसे अभूतपूर्व सफलता मिली थी, इसीलिये पिछले पन्द्रह वर्षों से रहन-सहन एकदम बदल गया था। वहाँ के बँगले में एयर-कंडीशनर, बेहतरीन फर्नीचर, बड़ी-बड़ी मोटरें और अन्य सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ थीं।

देश में मामा की गल्ले की छोटी-सी दुकान थी। गरीबी तो नहीं थी, फिर भी साधारण-सा घर था। मामी चूल्हे-चौके से लेकर घर को झाड़ने-बुहारने तक के सब काम अपने हाथों से ही करती थी। बिशेसर और उसकी पत्नी को किसी प्रकार की असुविधा न हो, इसलिये मामी ने एक कमरे को अच्छी तरह सजा-सँवार दिया था। दो-एक निवार के पलंग डाल दिये थे। आगरे की एक दरी बिछा दी थी।

सुबह मामी ने चाय-नाश्ता दिया तो बिशेसर ने देखा की चीनी-मिट्टी के बर्तनों की जगह काँसे के बर्तन हैं। खैर, वह मामी का बहुत अदब रखता था, इसलिये कुछ बोला नहीं, परन्तु उसकी पत्नी ने तो कह दिया – "मामीजी, इस प्रकार के बर्तनों में तो हमारे यहाँ दाई-नौकर भी चाय नहीं पीते।" मामी के मन पर चोट तो लगी, पर वे कुछ बोली नहीं।

दूसरे दिन पास के शहर से बिशेसर के दो मित्र मिलने आये। मामा भी वहीं बैठे थे, परन्तु वे देहाती वेश-भूषा में थे, इसलिये बिशेसर ने मित्रों से उनका परिचय कराना उचित नहीं समझा। उसी दिन वह बाजार से स्टेनलेस-स्टील के बर्तन, एक अच्छा टी-सेट और बहुत-सा सामान खरीद कर ले आया। मामी के पूछने पर बोला कि उसके दोनों मित्र बड़े आदमी हैं, वे भला काँसे के बर्तनों में भोजन कैसे करेंगे?

मामी बड़े घर की बेटी थी। उसके पीहर में स्टील के सिवा चाँदी के बर्तन भी थे, किन्तु अपने घर में हैसियत और आय के अनुसार सँभालकर खर्च करती थी, पर उसमें स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा था। उसे बहू का तौर-तरीका अच्छा नहीं लगा। उसकी बातचीत में धन के अभिमान की स्पष्ट झलक दिखाई दी। फिर भी मामी ने सोचा की दो-चार दिनों की ही तो बात है, अत: चुपचाप सह लेना ही उचित होगा।

एक दिन बिशेसर और उसकी पत्नी बातें कर रहे थे। उन्हें पता नहीं था कि मामी पास ही रसोई में हैं। पत्नी कह रही थी, "अच्छा किया, जो आपने तीन-चार सौ इन सारी चीजों पर खर्च दिये। इनका भी तो हमारे ऊपर खर्च हो जायेगा। देखती हूँ कि मामाजी की हालत अच्छी नहीं है। स्वयं तो वे शायद ही कुछ कहें।"

थोड़े दिनों बाद ही वे बम्बई के लिये रवाना हुए। बिशेसर ने औपचारिकता के तौर पर मामी से कहा कि मुझे यहाँ आकर बहुत अच्छा लगा, बचपन के दिन याद आ गये। बहुत बार आने की सोचता रहा, परन्तु काम के झंझटों से आ नहीं सका। एक बार तो उसके जी में आया, मामी को बता दूँ कि उनके लिये स्टील के अच्छे बर्तन और टी-सेट छोड़कर जा रहा हूँ, परन्तु फिर सोचा कि दो-चार दिन बाद उन्हें स्वयं ही पता चल जायेगा।

ट्रेन के पहले दर्जे के डिब्बे में सारे सामान रख दिये गये। मामी ने रास्ते के लिये खाने-पीने की अनेक तरह की सामग्री दी और विदा के समय पुन: आने का आग्रह भी किया, परन्तु दो-तीन दिनों से उसके चेहरे पर एक संजीदगी-सी थी, जो बिशेसर से छिपी नहीं रही।

अगले स्टेशन पर जब खाने-पीने के सामान की टोकरी खोली गयी, तो देखा कि सारे बर्तन, टी सेट तथा जो दूसरे सामान, जिन्हें वे खरीद लाये थे, सहेज कर रखे हुए हैं। साथ में एक पुर्जा भी था, जिस पर लिखा था कि हम आप लोगों की तरह धनवान नहीं हैं, परन्तु घर आए मेहमानों से रहने-खाने के बदले में कुछ कीमत लेनी पड़े, ऐसे गरीब भी नहीं।

पति-पत्नी के चेहरे शर्म से झुक गये। वे मन-ही-मन अपने को छोटा – बहुत-बहुत छोटा अनुभव कर रहे थे।

❑❑❑

माँ को जैसा मैंने देखा

स्वामी भूमानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पिछले अंक का शेषांश)

१८ जनवरी, १९१८ ई. का दिन। उस दिन अप्रत्याशित रूप से स्वामी विश्वेश्वरानन्द (कपिल महाराज) के तार से शरत् महाराज को पता चला कि माँ को बुखार आया है। वे अनेक कार्यों में व्यस्त थे और हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) तथा बाबूराम महाराज बीमार थे। उस समय महाराज उद्‌बोधन -भवन में ही थे। इन सारी बातों की क्षण मात्र में ही मीमांसा करके एक निश्चय करके शरत् महाराज बोल उठे, "कल जयरामबाटी जाऊँगा।" अगले दिन वे डॉक्टर ज्ञानेन्द्रनाथ कांजीलाल, डॉक्टर सतीशचन्द्र चक्रवर्ती (उनके अनुज), श्रीमान् विमल (बाद में स्वामी दयानन्द), योगीन-माँ, गोलाप-माँ तथा मुझे साथ लेकर रात की गाड़ी से रवाना हुए और २१ जनवरी की सुबह दस बजे जयरामबाटी जा पहुँचे।

माँ बोलीं, "कांजीलाल की दवा खाऊँगी।" अत: डॉक्टर कांजीलाल ने ही होम्योपैथिक चिकित्सा आरम्भ की। चार दिन दवा खाकर माँ स्वस्थ हो उठीं। २८ जनवरी को उन्होंने अन्न-पथ्य ग्रहण किया।

शरत् महाराज ने माँ को साथ लेकर उद्‌बोधन आने की आशा की थी, परन्तु माँ ने इस बार जाने की कोई इच्छा नहीं दिखाया। तो भी शरत् महाराज मुझे जयरामबाटी छोड़कर श्रीमान् विमल के साथ कामारपुकुर तथा बदनगंज होते हुए कोआलपाड़ा के रास्ते उद्‌बोधन लौट आये। मैं पन्द्रह दिन तक जयरामबाटी में रहा। माँ ने निश्चय किया कि अभी उद्‌बोधन नहीं जायेंगी। ठाकुर की तिथिपूजा के दिन सुबह मैं उद्‌बोधन लौट आया।

हरि महाराज चिकित्सा के लिए उद्‌बोधन में निवास कर रहे थे। मायावती आश्रम से अस्वस्थ होकर लौटे स्वामी प्रज्ञानन्द भी चिकित्सा के लिए वहीं थे। तभी (१० अप्रैल, १९१८) कोआलपाड़ा मठ से तार आया – "माँ को बुखार आया हुआ है। बुखार उतर नहीं रहा है।" माँ के बीमार होने की बात सुनकर शरत् महाराज को हमेशा ही अस्थिर होते देखा है। अत: इस बार भी उन्होंने निश्चय किया कि डॉ. कांजीलाल, स्वामी परमेश्वरानन्द (किशोरी म.) को साथ लेकर मुझे रात की गाड़ी से कोआलपाड़ा जाना होगा।

यथासमय कोआलपाड़ा पहुँचकर डाक्टर ने माँ की चिकित्सा आरम्भ कर दी, लेकिन बुखार नहीं उतरा। जब बुखार बढ़ने लगता, तो बेहोशी में वे कहने लगतीं, "शरत् नहीं आया क्या?" मैं उनसे पूछता, "माँ, शरत् महाराज को आने के लिये लिखूँ?" तो माँ कहतीं, "नहीं, नहीं, मत लिखना। बच्चे को गरमी में आने में कष्ट होगा।" लेकिन फिर तत्काल कहतीं, "शरत् नहीं आया क्या?"

इधर माँ बुखार में कहतीं, "शरत् नहीं आया क्या?" और पूछने पर कहतीं, "नहीं, नहीं, मत लिखना।" मैंने सारी बातें शरत् महाराज को लिखी। बुखार देखकर डॉ. कांजीलाल ने भी पत्र लिखा। १७ अप्रैल की दोपहर को शरत् महाराज घोड़ागाड़ी से विष्णुपुर होते हुए कोआल-पाड़ा आ पहुँचे। साथ में डॉ. सतीश चन्द्र चक्रवर्ती तथा योगीन-माँ भी आये थे। शरत् महाराज के इस अप्रत्याशित आगमन से सभी बड़े आश्वस्त हुए।

महाराज गाड़ी से उतरकर सीधे माँ के पास गये और उनके बिस्तर के एक किनारे खड़े होकर उन्हें देखने लगे। इसके बाद धीरे-धीरे चलकर माँ के सिरहाने की ओर रखी हुई चौकी पर बैठ गये। उस समय माँ का बुखार बढ़ रहा था। वे मानो कुछ पकड़ने के लिये अपने दोनों हाथों से टटोल रही थीं। शरत् महाराज ने डॉक्टर से पूछा, "माँ इस प्रकार क्यों कर रही हैं?" डॉक्टर ने बताया, "बुखार बढ़ने पर माँ के हाथों में जलन होती है, तब वे किसी ठण्डी चीज पर हाथ रखने के लिये ऐसा करती हैं।" शरत् महाराज जानते थे कि उनका शरीर खूब ठण्डा है। अत: वे तत्काल अपने कुर्ते के बटन खोलने लगे। उन्होंने माँ के दोनों हाथों को अपने दाहिने हाथ में लिया और बाएँ हाथ से बड़े कष्टपूर्वक अपना कुर्ता तथा बनियान निकालकर माँ के हाथ अपने पेट पर रख लिया। माँ ने "अहा" शब्द का उच्चारण किया और आँखें खोलकर देखा, परन्तु उन्हें अपने चेहरे पर घूँघट न खींचते देखकर सबने सोचा कि माँ यह नहीं समझ सकी हैं कि शरत् महाराज आये हैं। १८ अप्रैल को माँ का बुखार उतरा। २१ अप्रैल को उन्होंने अन्न-

पथ्य ग्रहण किया। डॉ. कांजीलाल कलकत्ते लौट गये।

माँ के अन्न-पथ्य ग्रहण करने से सभी लोग खूब आनन्दित थे। उसी समय डाकिया आकर पत्र दे गया। शरत् महाराज ने एक पत्र पढ़ा और रासबिहारी महाराज को देते हुए बोले, "पढ़कर देखो।" रासबिहारी महाराज ने पढ़कर सबको बताया, "स्वामी प्रज्ञानन्द ने देहत्याग कर दिया है।

कुछ दिन बीते। दिन-पर-दिन माँ ने शरीर में शक्ति आ रही थी। २९ अप्रैल को माँ जयरामबाटी लौट आयीं। साथ में शरत् महाराज भी आये। डॉक्टर सतीश बाबू उसी दिन कलकत्ते लौटे।

५ मई को माँ कलकत्ते के लिये रवाना हुईं। उस रात उन्होंने कोआलपाड़ा के जगदम्बा आश्रम में रात्रिवास किया। अगले दिन (६ मई को) सुबह पालकी में चलकर करीब ११ बजे वे विष्णुपुर के भक्त सुरेश्वर सेन के घर पहुँचीं। ७ मई को दोपहर साढ़े दस बजे गाड़ी में माँ कलकत्ता रवाना हुईं। साथ में शरत महाराज, योगीन-माँ, सरला देवी (बाद में प्रव्राजिका भारतीप्राणा) आदि हम कई लोग चले।

गाड़ी विष्णुपुर से चली। हम लोग एक तृतीय श्रेणी के 'दरबार गाड़ी' में चढ़े। माँ एक किनारे बैठीं, उनके बाद शरत् महाराज और उनकी बगल में हम लोग बैठे। रात के आठ बजे माँ ने उद्‌बोधन-भवन में शुभागमन किया।

माँ पूजागृह में ठहरीं। बगल के कमरे में राधू आदि रहीं। शरत् महाराज के कमरे में हरि महाराज बीमार थे। नीचे के कमरे में सचिन (स्वामी चिन्मयानन्द) परलोक की यात्रा के लिये तैयार हो रहे थे। केदार-बदरी-दर्शन के लिए जाकर उन्हें जो पहाड़ी आँव शुरू हुआ था, वह १९ जुलाई के अन्त में ठीक हुआ। प्रज्ञानन्द तथा सचिन दोनों ने शरत् महाराज को देखकर एक साथ ही मठ में प्रवेश लिया था और अल्प समय के अन्तराल में ही दोनों ने महाप्रयाण किया।

१९२० ई., शरत् महाराज भुवनेश्वर में महाराज (ब्रह्मानन्दजी) के साथ दस दिन बिताकर १७ फरवरी की सुबह उद्‌बोधन लौट आये। जयरामबाटी से आये पत्र से पता चला कि माँ को बुखार आ रहा है। संध्या के बाद सान्याल महाशय से सलाह करके उन्होंने निश्चय किया कि माँ को कलकत्ता लाकर चिकित्सा करानी होगी और माँ को लाने हेतु प्रियनाथ (स्वामी आत्मप्रकाशानन्द) बोशी सेन एवं मुझे जयरामबाटी जाना होगा। २० फरवरी को हम तीनों गाड़ी से रवाना हुए। अगले दिन जयरामबाटी पहुँचकर देखा कि माँ खूब दुर्बल हो गयी हैं। यथासमय मैंने माँ से शरत् महाराज की प्रार्थना बतायी। माँ ने भी कलकत्ता चलने की सहमति व्यक्त की।

माँ उद्‌बोधन आ गयी हैं। डॉ. कांजीलाल माँ की चिकित्सा कर रहे हैं। उस दिन शरत् महाराज बैठकखाने में बैठकर एक पत्र पढ़ रहे थे। पढ़ना समाप्त करके वे बोले, "२४ अप्रैल को लाटू महाराज ने देहत्याग किया है। तुम लोग सबसे कह दो कि कोई भी यह बात माँ को न बताये।"

माँ का बुखार न उतरते देख शरत् महाराज ने उनकी चिकित्सा हेतु डॉक्टर प्राणधन बसु को बुलवाया। इसके ३-४ दिन पूर्व डॉक्टर जे. एम. दासगुप्त ने माँ की रक्त-परीक्षा की थी, पर उसमें कालाज्वर का कोई लक्षण नहीं मिला। डॉ. बसु तीन-चार बार माँ को देखने आये, पर उन्होंने कभी यह जानने की चेष्टा नहीं की कि वे किसकी चिकित्सा कर रहे हैं। माँ उद्‌बोधन के पूजागृह में ही थीं। एक दिन डॉ. बसु ने वेदी के सिंहासन पर ठाकुर का चित्र देखकर शरत् महाराज से पूछा, "मैं किसकी चिकित्सा कर रहा हूँ।" वे बोले, "आपको श्रीरामकृष्ण के शिष्य तथा भक्त-मण्डली की माँ की चिकित्सा का भार सौंपा गया है।" पूजाघर में तो डॉ. बसु ने कुछ नहीं कहा, लेकिन नीचे आकर वे शिकायत के स्वर में शरत् महाराज से बोले, "आप लोगों के लिये यह बात पहले ही बता देना उचित होता।" उसी दिन से उन्होंने अपना दस रुपये फीस लेना बन्द कर दिया और स्व-स्वभाव के अनुसार बड़े लगन से माँ की चिकित्सा में लग गये।

६ मई की सुबह कृष्णलाल महाराज (धीरानन्दजी) शरत् महाराज के पास आकर बोले, "कल सुबह से राम (बलराम बाबू के पुत्र रामकृष्ण बसु) के पेट में दर्द हो रहा है। सारी रात दर्द से तड़पता रहा, जरा भी सो नहीं सका है। रामबाबू माँ के शिष्य थे। उनके पिता बलरामबाबू ठाकुर के भक्त थे। यथासाध्य चिकित्सकों को दिखाया गया। दवा, पथ्य, सेवा – किसी चीज में भी कोई त्रुटि नहीं रही। परन्तु रोग बढ़ता रहा। अन्त में १४ मई के अपराह्न में ३ बजकर ४५ मिनट पर नाम-संकीर्तन के बीच रामबाबू ठाकुर के पादपद्मों में लीन हो गये। शरत् महाराज तथा महापुरुष महाराज के अतिरिक्त भी मठ के अनेक साधु-सन्त उस समय वहाँ उपस्थित थे।

माँ की बीमारी बढ़ती जा रही थी, अत: निश्चय किया गया कि रामकृष्ण बसु के देहान्त की बात माँ को न बतायी जाय। पर गोलाप-माँ के पेट में कोई बात पचती ही न थी। उन्होंने लाटू महाराज और रामबाबू के देहत्याग की बात माँ को बता दिया। सुनकर माँ रोने लगीं। शरत् महाराज ने अपनी डायरी में लिखा है – "H.M.'s (Holy Mother) fever rose to 100°. She had a bad night ... all due to hearing the sad news about Ram." अर्थात् "माँ का बुखार १००° डिग्री तक पहुँच गया। रात में नींद उन्हें नहीं आई... यह सब राम के देहत्याग की खबर सुनने के कारण ही हुआ है।"

माँ का बुखार किसी भी प्रकार न उतरते देखकर शरत् महाराज ने १ जून से वैद्यकी चिकित्सा शुरू की। माँ के शिष्य ललितमोहन चट्टोपाध्याय प्रख्यात वैद्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री

को कार में बैठाकर ले आये। वैद्यकी चिकित्सा चलने लगी। एक दिन माँ एक कटोरी में मुरमुरे तथा भूने हुए चने लेकर खाने बैठी हैं – यह सुनकर शरत् महाराज माँ के सम्मुख आ खड़े हुए। इस बीच माँ ने मुरमुरे की कटोरी को पीछे छिपा लिया। शरत् महाराज हाथ जोड़कर माँ से बोले, "माँ! मैं आपसे उस कटोरी की भिक्षा माँगता हूँ।" माँ ने खुशी-खुशी वह कटोरी शरत् महाराज के हाथ में दे दी। कर्तव्य-बोध के कारण माँ को इन चीजों से वंचित करके, उनके मुँह के ग्रास की भिक्षा माँगकर शरत् महाराज को परम कष्ट हुआ था – बाद में एक दिन यह दिखाई दिया। इसे आगे बताऊँगा।

वैद्यकी चिकित्सा के नियमों में एक यह भी था कि एक सेर पानी उबलकर जब आधा सेर रह जाये, तब उसे ठण्डा करके माँ को पिलाया जाय। एक दिन मैंने शरत् महाराज से कहा, 'गाँवों में ऐसा पानी गरम करने पर अधिकांश भाग मिट्टी का बचता है, कलकत्ते के जल के अधिकांश भाग में फिटकिरी मिली रहती है (तब आषाढ़ का महीना था)। चिकित्सक क्या ऐसा ही चाहते हैं? शरत् महाराज शान्त भाव से बोले, "यह क्या हम लोगों के विचार का समय है? कविराज जैसा कहते हैं, ठीक वैसा ही करना हमारा कर्त्तव्य है।" लज्जित होकर मैं अपने काम पर चला गया।

माँ की बीमारी बढ़ने के साथ-साथ माँ के दर्शन करने की व्यवस्था भी बदलनी पड़ी थी। एक दिन एक भक्त ने माँ के दर्शन करने जाकर उनका एक पाँव खींचकर सीने से लगा लिया। पैरों में हाथ लगाते ही माँ – "यह क्या जी" – कह उठीं। पास उपस्थित सेवक दौड़कर आये और भक्त का हाथ पकड़कर नीचे ले गये। सुनकर शरत् महाराज ने निर्णय लिया कि उन्हें बताकर ही भक्तों को पूजाघर में भेजा जाय। तभी यह नियम बनाया गया कि बाहर से ही दर्शन करके लौट आना होगा। एक दिन एक महिला आयी। इसके पूर्व वह कभी नहीं आयी थी। महिला ने शरत् महाराज से माँ को देखने की अपनी व्याकुलता बताकर उनकी अनुमति माँगी। शरत् महाराज एक साधु को पुकारकर बोले, "इन्हें साथ ले जाकर दर्शन करा लाओ।" वे साधु उस समय किसी कार्य में व्यस्त थे। अत: उन्होंने एक नवागत ब्रह्मचारी पर दर्शन कराने का भार सौंप दिया। सहसा पूजागृह से योगीन-माँ चीत्कार कर उठी, "शरत्! तुमने यह किसको ऊपर भेज दिया है?" उनकी बात सुनकर सभी पूजाघर की ओर भागे। पूजाघर में पहुँचकर देखा गया कि वही महिला माँ के पैर छाती पर रखकर आर्तनाद कर रही है। एक साधु ने आगे बढ़कर उन महिला के हाथ से माँ के पैर छुड़ाये और उन्हें पकड़कर नीचे ले गये। इस घटना के बारे में गोलाप-माँ ने कहा था, "पत्थर के भगवान की पूजा करना आसान है, ऐसे भगवान कभी कुछ कहते नहीं, लेकिन मनुष्य-देह में ईश्वर की पूजा करना बहुत कठिन है, क्योंकि ये देवता बोलते भी हैं।" उन महिला को समझा-बुझाकर विदा कर दिया गया।

महिला के चले जाने के बाद शरत् महाराज पूर्वोक्त साधु से बोले, "भाई, यदि कथनानुसार काम नहीं कर सकते, तो मठ में जाकर रहो।" जिन्हें यह बात कही गयी, उनका भी शरत् महाराज के प्रति सम्मान या श्रद्धा-भाव किसी से कम न था, या किसी परिश्रम के कार्य में भी वे किसी से कम न थे। अत: यह बात सुनते ही वे शरत् महाराज के समक्ष खड़े होकर बोले, "मैं भी यहाँ माँ के लिये ही हूँ। यह निश्चित जानिये कि माँ यदि अस्वस्थ नहीं होतीं, तो अभी यहाँ से चला जाता।" वरिष्ठ साधु के लिये ऐसी बात हजम कर लेना सहज नहीं है। सुनकर हम लोगों का भी खून खौल उठा। पर शरत् महाराज ने शान्त भाव से कहा, "हम सभी माँ की सेवा के लिये ही यहाँ हैं; माँ को कोई असुविधा न हो, इसीलिए तो कहना-सुनना पड़ता है, नहीं तो क्या मैं नहीं जानता कि तुम देख-समझकर ही सब करते हो?" शरत् महाराज भलीभाँति जानते थे कि उनके कहने पर उठने-बैठने वाले साधु उनके अपने जन है। शरत् महाराज के देहत्याग के बाद उद्बोधन में बैठकर एक दिन उन साधु ने यह घटना बताकर आँसू बहाते हुए कहा था, "कह नहीं सकता कि मेरी यह बात उनके सिवा अन्य कोई सह पाता या नहीं।"

इसी प्रसंग में मुझे माँ की एक बात याद आ रही है। एक दिन बातचीत के दौरान माँ ने कहा था, "अच्छे सन्तान की माँ तो सभी हो सकती हैं। बुरे को कौन अपनाता है?" माँ अपनी अयाचित कृपा दिखाकर हमें सदा स्मरण करा देतीं कि उनका आगमन बुरों को स्वीकार करने हेतु ही हुआ है और माँ के साथ ही आये हैं स्वामी सारदानन्द। जिस साधु को कोई भी आश्रम में नहीं रखना चाहता, जिससे सभी परेशान हों, उसे भी शरत् महाराज ने आश्रय दिया है। अस्तु, यही निर्धारित हुआ कि सभी लोग बाहर से ही माँ का दर्शन करेंगे।

महाप्रस्थान के ५-६ दिन पहले रात दस बजे जब सरला देवी माँ को खिलाने गयीं, तो माँ रोते हुए बोलीं, "मैं तुम लोगों के हाथ से नहीं खाऊँगी, अपने पिता के हाथ से खाऊँगी।" पिता के हाथ से खाने की बात का अर्थ किसी की समझ में न आने के कारण सरला देवी ने जाकर यह बात शरत् महाराज को कही। शरत् महाराज घबराकर आये और बोले, "माँ!" माँ ने आँखें खोलकर देखा – शरत् महाराज बिस्तर के पास आकर बैठे हैं। (तब बिस्तर जमीन पर लगा था) माँ रोते हुए बोलीं, "बेटा, ये लोग मुझे खाने को नहीं दे रही हैं, मैं तेरे हाथ से खाऊँगी।" शरत् महाराज धीरे-धीरे माँ के मुँह में दूध डालने लगे। माँ भी शान्त होकर उसे पीने लगीं। दूध पी लेने के बाद वे तृप्ति से बोलीं, 'आह'। शरत् महाराज धीरे-धीरे माँ के हाथ-पैरों पर हाथ फेरने लगे।

मुझे लगता है कि जिस कर्तव्य-बोध के कारण माँ के मुख से चना-मुरमुरा को भिक्षा में माँग लेने के कारण शरत् महाराज के मन में भीषण पश्चाताप था, माँ ने उनके मन के दुख को इसी प्रकार दूर किया था। अन्यथा 'पिता के हाथ से खाऊँगी' – ऐसी बात तो कभी किसी ने उनके मुख से नहीं सुना था।

माँ की वैद्यकी चिकित्सा भी निष्फल रही। उनकी अवस्था दिनो-दिन बिगड़ते देख किसी को भी यह समझते देर नहीं लगी कि माँ अब शीघ्र ही ठाकुर के साथ मिलित होनेवाली हैं। यह आशंका भक्तों को बता दी गयी। माँ को देखने के लिए दल-के-दल साधु तथा गृही भक्तगण आने लगे। माँ के महाप्रस्थान के तीन दिन पहले वैद्यकी चिकित्सा बन्द कर दी गयी। डॉक्टर कांजीलाल की होम्योपैथिक चिकित्सा चलने लगी। १९ जुलाई को शरत् महाराज का पहला दाँत गिरा। इस पर वे बोले, "देखो, मेरी भी पुकार हो रही है।" सुनकर मुझे लाटू महाराज की बात याद आ गयी। उन्होंने कहा था, "महाराज (ब्रह्मानन्दजी), शरत् – सभी स्वधाम लौटने की तैयारी कर रहे हैं।"

२१ जुलाई, १९२० ई० का दिन। सूर्योदय होते ही मठ और विभिन्न जगहों से साधु और भक्तगण दल-के-दल माँ का दर्शन करने आ रहे हैं। सभी के चेहरे पर उद्वेग का चिह्न है; सभी विचलित हैं। इतने लोगों की भीड़ है, तो भी उद्‌बोधन नि:शब्द है, जिसका जो भी काम है, वह चुपचाप यंत्रवत् किये जा रहा है। हममें से अधिकांश को ऐसी आशा नहीं थी कि आज की रात सकुशल बीतेगी। धीरे-धीरे सूर्य अस्त हुए। जैसे-जैसे रात बीतने लगी, वैसे-वैसे माँ मानो अस्थिर होने लगीं। रात के ग्यारह बजे नाम सुनाना आरम्भ किया गया। रात के डेढ़ बजे माँ ने कैलाश-गमन किया। उन्हें सामने देखकर 'माँ' बुलाना सदा के लिए समाप्त हुआ।

अगले दिन सुबह दस बजे शरत् महाराज उद्‌बोधन से माँ को लेकर बेलूड़ मठ गये। दिन के तीन बजे सभी कार्य सम्पन्न हो जाने के बाद जोरदार वर्षा हुई और धरती शीतल हुई। संध्या के पूर्व शरत् महाराज सभी को साथ लेकर उद्‌बोधन-कार्यालय लौट आये।

माँ की महासमाधि के बाद एक दिन महाराज (ब्रह्मानन्दजी) बलराम भवन से उद्‌बोधन गये थे। शरत् महाराज ने उनका चरण-स्पर्श कर प्रणाम करने के बाद कहा, "महाराज ! माँ अपनी बीमारी के समय एक दिन चना-मुरमुरा खाने को बैठी थीं, सुनकर मैंने आकर उसे भिक्षा में माँग लिया था। माँ को मैंने चना-मुरमुर खाने से रोक दिया था। आज तुम्हारे माध्यम से मुझे माँ को चना-मुरमुरा खिलाने की इच्छा हुई है।" उनकी बात पूरी होते ही महाराज हँसकर बोले, "ले आओ, आज मुरमुरे और भुने हुए चने ही खाऊँगा।"

महाराज आनन्दित होकर चने-मुरमुरे खा रहे थे। और शरत् महाराज अपने सीने पर दोनों हाथ रखे अश्रुपूरित नेत्रों से उन्हें खाते हुए देख रहे थे। ज्योंही महाराज का मुरमुरे खाना समाप्त हुआ, शरत् महाराज का चेहरा खिल उठा। वे कई बार महाराज के प्रसंग में हम लोगों से कहा करते, "महाराज के भीतर ही ठाकुर और माँ हैं। महाराज की सेवा ठाकुर और माँ की ही सेवा है – ऐसा विश्वास रखना।''

१९२२ ई. के अन्त में शरत् महाराज काशी आये थे। मैं तब ढाका में था। उस समय निम्नलिखित घटना घटी थी, जिसे मैंने उनके सेवकों से सुनकर लिपिबद्ध किया है।

एक दिन दोनों आश्रमों के साधुगण शरत् महाराज के पास बैठकर उनकी बातें सुन रहे थे तभी एक साधु ने उनसे कहा, "महाराज ! अमुक माँ से दीक्षा लेकर साधु हुआ था, लेकिन अन्ततः उसे विवाह क्यों करना पड़ा?" यह सुनते ही शरत् महाराज जो इतने सहनशील तथा गम्भीर स्वभाव के व्यक्ति थे, ऐसे सुलग उठे मानो किसी ने बारूद के ढेर में आग लगा दी हो; वे बोले, "क्या कहा तुमने?" आक्षेपकर्ता उस रुद्र रूप के सम्मुख सिर नीचा किये खड़े रहे। शरत् महाराज उत्तेजित होकर कहने लगे, "माँ कब किसे किस पथ से अपने पास खींच लेंगी और माँ किसकी कौन-सी कामना पूर्ण करके अपनी सन्तानों को गति-मुक्ति देंगी, जब हममें से कोई भी यह नहीं जानता; तो कौन क्या कर रहा है, क्या नहीं कर रहा है उधर दृष्टिपात किये बिना, लोगों का दोष-दर्शन न करके, जिससे हमारे मन में ठाकुर तथा माँ के पादपद्मों में मति बनी रहे, इसके लिए दिन-रात प्रार्थना करना ही हमारा कर्तव्य है। भाई ! मैं तो उसे बुरा नहीं कह सका, क्योंकि यह बात कभी मेरे मन में उठी ही नहीं कि उसने कुछ गलत किया है। तुम, मैं और सभी लोग माँ के हाथों में खेल रहे हैं। जिसे जैसी इच्छा, उसे वे वैसे ही खिला रही हैं। और अधिक मैं क्या कहूँ – खूंटी पकड़कर जिसकी जैसी इच्छा, घूमते रहो, परन्तु खूब सावधान रहना ! खूंटी छोड़कर मत घूमना, अन्यथा क्षण मात्र में ही रसातल में चले जाओगे।"

थोड़ी देर स्तब्धवत् चुप रहकर फिर गद्‌गद स्वर में कहने लगे, "उनकी लीला, उनका खेल मैं जरा भी समझ नहीं सका। आजीवन परिश्रम के फलस्वरूप केवल यही कह सकता हूँ (इतना कहकर वे मधुर कण्ठ से गाने लगे) – "भावार्थ) हे रंगमयी, तेरा खेल देखकर मैं अवाक् रह गया हूँ। बैठकर यही सोचता हूँ कि हँसूँ या रोऊँ ! इतने दिनों तक साथ-साथ रहा, पीछे-पीछे घूमता रहा, परन्तु तुम्हें समझने में असमर्थ होकर अब मैंने हार मान ली है। अब मैं समझ गया हूँ कि उनका यह संसार-खेल विचित्र है, इसे वे बच्चों के खेल के समान सुबह-शाम तोड़ती और गढ़ती रहती हैं।"

उद्‌बोधन कार्यालय। १ जनवरी १९२३ ई. का दिन।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

संध्या के बाद शरत् महाराज नीचे आये हैं। कुछ देर बाद एक भक्त ने आकर उन्हें प्रणाम किया। शरत् महाराजभक्त की कुशलता आदि पूछने लगे। सारी बातों का उत्तर देने के बाद अन्त में भक्त ने कहा, "महाराज, ठाकुर के दिव्य भाव को देखकर उनके अवतारत्व में तो विश्वास होता है, लेकिन माँ को मैं साक्षात् भगवती के रूप में क्यों नहीं स्वीकार कर पाता?" शरत् महाराज बोले, "ठाकुर को यदि ईश्वर मानते हो, तो फिर तुम्हारे मन में ऐसा सन्देह क्यों आता है?"

भक्त ने शान्त भाव से कहा, "महाराज, मेरा यह सन्देह कैसे भी दूर नहीं हो रहा है।" शरत् महाराज बोले, "तो फिर कहो कि ठाकुर को अवतारत्व के बारे में तुम्हें ठीक धारणा नहीं हुई है।" भक्त ने विनयपूर्वक कहा, "नहीं महाराज, ठाकुर के विषय में तो वह विश्वास मुझे है।" इस पर शरत् महाराज दृढ़ कण्ठ से बोले, "तो क्या तुम्हारा यह विश्वास है कि भगवान ने एक गोबर थापनेवाली स्त्री से विवाह किया था?" भक्त ने धीरे-धीरे आगे बढ़कर महाराज को प्रणाम किया तथा आनन्दित होकर बोला, "मेरा संशय दूर हो चुका है।"

शरत् महाराज ने जो कुछ कहा, उसे कई लोगों ने सुना था। परन्तु जैसा कि ठाकुर कहा करते थे – "दियासलाई की एक तीली जलाने से हजार वर्ष का अँधेरा कमरा तत्काल आलोकित हो उठता है" – वैसे ही उन भक्त का संशय महाराज के एक वाक्य से ही दूर हो गया, या लोगों की दृष्टि से अगोचर कुछ ऐसा घटित हुआ, जिससे भक्त आनन्दित होकर कह उठे थे, "महाराज, मेरा संशय दूर हो गया" – यह हम समझ नहीं सके। हमने देखा – शरत् महाराज तेजोद्दीप्त मुख के साथ गम्भीर भाव से बैठे हैं। भक्त के दोनों नेत्र आनन्द से मुँदे जा रहे हैं। उस दिन किसी ने अन्य कोई बात नहीं की। मानो सभी ध्यानमग्न हों, मानो बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने के कारण किसी के मन में कोई बात ही नहीं उठ रही थी। ❖ (क्रमशः) ❖
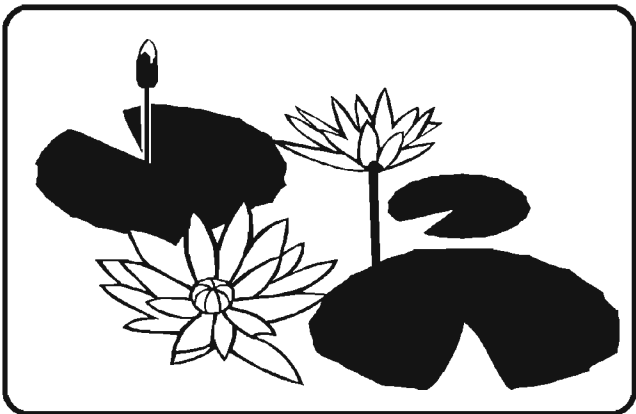
संयम की महिमा

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

संयम जहाँ, वहाँ पर खिलते
सुरभित सुमन सिद्धि के सारे।
संयम ही जीवन है प्यारे !!

संयम के बल से नदियों की
बहती है कल-कल जलधारा,
संयम-बिना वही जलधारा
कर देती जब भंग किनारा,
तब अग-जग हो जाते जलमय,
जन फिरते हैं, मारे-मारे ।। संयम.।।

संयम होता यदि न, सृष्टि तब
कैसे भला सहज चल पाती,
यह विराट् विभुलोक-कल्पना
संयम बिना स्वयं जल जाती,
संयम के ही बल से नियमित
गतिमय हैं नभ के ग्रह-तारे ।। संयम.।।

संयम से ही मानवता का
सदा रहा है पावन नाता,
संयम शोभा-शक्ति अनूपम,
संयम है जीवन का त्राता,
संयम के बल से ही धरती
रहती सबको उर पर धारे ।। संयम.।।

ज्योति जगा संयम की जिसने
जीवन की आरती उतारी,
खिले शान्ति के सुमन वहाँ पर,
महक उठी कर्मों की क्यारी,
जो जग जीत हुए, वे भी जन
संयम-बिना स्वयं से हारे ।। संयम.।।

संयम के रथ पर बैठा रवि
बरसाता है जग पर सोना,
संयम-रस को पीकर मानव
पा जाता है रूप सलोना,
संयम की नौका ही नर को
भव सागर से पार उतारे ।। संयम.।।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१६६. तेई ऊँचे जानिये, जाके नीचे नैन

सूफी सन्त बू अली शाह को लोग 'कलन्दर' कहकर उनकी हँसी उड़ाया करते थे। एक बार वे कच्ची दीवार पर बैठकर विचारों में मग्न थे, तभी दिल्ली का सुलतान हाथी पर सवार हो शहर की सैर के लिए उनके पास से होकर निकला। सुलतान सन्त को पहचानता न था। पूछताछ करने पर जब उसे पता चला कि यही बू अली शाह हैं, तो उसने डाँटकर पूछा, ''क्यों रे पगले कलन्दर, तुझे दिखाई नहीं देता कि हाथी पर सवार बादशाह सलामत की सवारी जा रही है। उन्हें सलाम करने के बजाय तू टूटी-फूटी दीवार पर बैठकर क्या अपने को बादशाह से भी ऊँचा मान रहा है?'' अली शाह ने सुलतान की तरफ घूरकर देखा और बोले, ''ओ बेतमीज बादशाह, धीमी चालवाले हाथी पर बैठकर भी तू अपनी अकड़ दिखा रहा है। तू जिस दीवार को टूटी-फूटी बता रहा है, अगर खुदा चाहे तो वह तेरे हाथी से भी तेज चाल से चलकर तुझे पीछे छोड़ देगी।''

सन्त के ये शब्द समाप्त भी न हुये थे कि वह बेजान दीवार तेजी से चलने लगी और देखते-ही-देखते सुलतान की आँखों से ओझल हो गई। सुलतान ने देखा, तो उसका सारा घमण्ड चूर-चूर हो गया। थोड़ी ही देर में दीवार पुन: अपनी जगह पर वापस आ गई। सुलतान तुरन्त हाथी पर से नीचे उतर पड़ा। नीची निगाह करके वह सन्त के चरणों में गिर पड़ा, उनसे माफी माँगी और भविष्य में किसी भी सन्त-महात्मा से अपने को ऊँचा न समझने की कसम खायी।

ऊँचे पद पर बैठा हुआ व्यक्ति दूसरों को अपने से नीचा समझता है, मगर भाग्यचक्र ऐसा चलता है कि एक दिन उसे ऊपर से नीचे आना पड़ता है। वस्तुत: ऊँचा वह होता है, जो अपने मस्तक को ऊपर उठाकर नहीं रखता – अपनी निगाहें नीची करके सबके साथ नम्रता से पेश आता है।

१६७. जो गीता को जाने, जोगी ताको जाने

एक बार एक स्कूली छात्रा सन्त विनोबा भावे के पवनार आश्रम में आई और बोली, ''मैंने श्रीमद्-भगवद्-गीता को पढ़ा, परन्तु उसमें स्त्रियों के लिये लिखा हुआ कुछ भी नहीं दिखाई दिया। उसमें योगी, पण्डित, स्थितप्रज्ञ, सात्त्विक, राजस, तामस – जैसे शब्द तो दिखाई दिये मगर योगिनी, पण्डिताइन, स्थितप्रज्ञा आदि शब्द देखने में नहीं आये। क्या आप इसका कारण बता सकते हैं?''

प्रश्न सुनकर विनोबाजी को हँसी आ गयी। उन्होंने कहा, ''तुम्हारा प्रश्न सचमुच बालसुलभ है। तुम अंग्रेजी की छात्रा हो न?'' यह पूछे जाने पर उसने कहा, ''जी हाँ, मगर मेरे प्रश्न का अंग्रेजी की छात्रा होने से क्या सम्बन्ध है?'' विनोबाजी ने कहा, ''सम्बन्ध यह है कि अंग्रेजी व्याकरण में 'ही', 'हिम', 'हिज', 'शी', 'हर' जैसे सर्वनामों के प्रयोग के द्वारा पुरुषों तथा स्त्रियों में भेद स्पष्ट किया जाता है। इसी कारण तुम कह रही हो कि गीता में स्त्रियों के लिये कुछ भी नहीं है। इसी आधार पर तुमने गीता में योगिनी, पण्डिताइन, स्थितप्रज्ञा जैसे शब्दों को ढूँढ़ने में अपना सिर खपा दिया। मगर तुम यह भूल गई कि अंग्रेजी व्याकरण में 'कामन जेंडर' भी है, जिसे हम 'उभयलिंग' कह सकते हैं; और वह स्त्री-पुरुष दोनों के लिये लागू होता है।''

उन्होंने आगे कहा – ''स्त्री और पुरुष तत्त्वत: अलग-अलग नहीं होते। उनमें भेद बाहरी या शरीरगत होता है। इस कारण एक को कही गई बात, दूसरे के लिये भी अभिप्रेत होती है। तुम गीता का औचित्य ही भूल गई। गीता का प्रयोजन हतोत्साहित अर्जुन को रथ में रखे अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर अपने बन्धु-बान्धवो के साथ न्याय-युद्ध लड़ने के लिये प्रेरित करना था। इसलिये ग्रन्थ में प्रसंगवश जो भी उपदेश दिये गये हैं, वे स्त्री-पुरुष दोनों के लिये समान रूप से उपयोगी है। उदाहरण के लिये उसमें फलासक्ति छोड़कर आशारहित होकर या निष्काम भाव से कर्म करने की बात कही गई है। वह पुरुषों तथा स्त्रियों – दोनों को प्रेरित करती है। तुमने योगी शब्द का उल्लेख किया। योगी और जोगी में शाब्दिक अन्तर नहीं है, क्योंकि 'जोगी' शब्द 'योगी' का ही अपभ्रंश है। तुम शायद 'जोगी' शब्द की मजेदार व्याख्या नहीं जानती – जो-गीता को जाने, जोगी ताको जाने। (जी गीता को समझे, उसी को योगी समझो।) अत: तुम गीता को पुन: पढ़ो और मन में यह ठानकर पढ़ो कि यह स्त्रियों के लिये भी है, तो इसमें तुम्हें आनन्द आयेगा और तुम्हारी धारणा बदल जायेगी। यदि तुम इस व्याख्या का अनुसरण करोगी, तो तुम भी 'जोगी' कहलाओगी।

स्वामी विरजानन्द (६)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

❖ (पिछले अंक से आगे) ❖

स्वामी अखण्डानन्द ने स्वामीजी की जीवनी का प्रथम खण्ड पढ़ने के बाद विरजानन्द के नाम एक भावपूर्ण पत्र लिखा था। महुला से १ फरवरी १९१३ को लिखित उस पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं –

''प्रिय विरजानन्द,

जीवनी का पहला खण्ड मैंने आद्योपान्त पढ़ा और जब तक मैं उसे पढ़ता रहा, तब तक रोमांचित शरीर के साथ मानो ठाकुर तथा स्वामीजी का साक्षात् देखता रहा। वही दक्षिणेश्वर, वही काशीपुर का उद्यान आदि बातें पढ़ते-पढ़ते वह सब कुछ हूबहू आँखों के सामने आकर खड़ा हो जाता है। धन्य हैं मदर! और धन्य हैं स्वामीजी के 'प्राच्य तथा पाश्चात्य शिष्यगण'! जिनके काफी काल के आन्तरिक प्रयास के फलस्वरूप आज हम सर्व-साधारण के समक्ष ऐसी सर्वांग-सुन्दर 'जीवनी' प्रस्तुत कर सके। तुम सभी के निष्ठापूर्ण प्रयास के फलस्वरूप और श्रीमती मदर (सेवियर) की असीम भक्ति के बल पर, स्वयं तुम लोगों के स्वामीजी ने ही अपनी जीवनी में पूरी तौर से अपना भाव ढाल दिया है!!! तुम लोगों की समवेत चेष्टा तथा अचला भक्ति के फलस्वरूप श्री स्वामीजी को मानो सर्वदा ही तुम लोगों के इस ग्रन्थ में प्रविष्ट होकर निवास करना पड़ेगा।

''एक बात और – पहला खण्ड पढ़ने के बाद दूसरे खण्ड के लिये और भी चार महीने का विलम्ब प्राय: असह्य ही प्रतीत होगा। दूसरा खण्ड पाने के लिये मैं दिन गिनता रहूँगा। मदर को मेरी ओर से कहना कि अद्वैत आश्रम से यह जो श्री स्वामीजी की 'जीवनी' निकली है, इसकी कोई तुलना नहीं है। एक इसी कार्य के लिये 'अद्वैत आश्रम' का गौरव अक्षुण्ण तथा चिर उज्ज्वल रहेगा! दूसरा खण्ड प्रकाशित होते ही मुझे भेजना मत भूलना। उसके कब तक निकलने की सम्भावना है, यह भी लिखकर सूचित करना।''

स्वामी शुद्धानन्द ने भी इस जीवनी को पढ़ने के बाद उन्हें बधाई देते हुए लिखा, ''जैसा अथक परिश्रम करके इस बृहदाकार जीवनी को प्रकाशित कर रहे हो, मुझे नहीं लगता कि दूसरा कोई वैसा कर पाता।'' स्वामीजी की भावधारा के प्रचार के फलस्वरूप आज देश-विदेश में जो इतनी हलचल दीख पड़ती है, उसके पीछे निहित मौन अथक प्रयास के इतिहास को शायद अब भी बहुत-से लोग नहीं जानते। स्वामीजी की ग्रन्थावली के किसी खण्ड का पाठ करने के बाद अभेदानन्दजी ने विरजानन्द को एक पत्र लिखा, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं – ''स्वामीजी के Memorial edition के अनुवादित अंश बड़े सुन्दर हो रहे हैं। *The East and the West* (प्राच्य और पाश्चात्य) को जितना देखा है – beyond criticism (त्रुटिहीन) है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम उनका अमूल्य रत्न जगत् में वितरित करके जगत् को समृद्ध बना रहे हो। यह एक बड़ा उत्तम कार्य हो रहा है। यह व्याख्यान आदि की अपेक्षा काफी उच्चतर कार्य है। यह तुम्हारे लिये – एक ऐसे संन्यासी के लिये सुरक्षित रखा हुआ था, जिसमें अनन्त धैर्य, शान्ति और साथ ही अटल उत्साह हो।''

इसी बीच १९०६ ई. के २६ सितम्बर से विरजानन्द को रामकृष्ण मठ का एक ट्रस्टी तथा रामकृष्ण मिशन की संचालक समिति का एक सदस्य चुन लिया गया।

१९१३ ई. में उनका मन मायावती आश्रम के अध्यक्ष पद से निवृत्ति लेकर एक बार फिर साधन-भजन में डूब जाने को व्याकुल हो उठा। इसी उद्देश्य से मदर सेवियर की सहायता से उन्होंने निर्जन वन्य अंचल में जिस छोटे-से आश्रम की स्थापना की थी, श्यामला ताल का वही विवेकानन्द आश्रम उनके साधक-जीवन की असंख्य स्मृतियों से जुड़ा हुआ है। स्थानीय लोग उस अंचल को 'श्याँला' कहते थे। इस निर्जन पर्वतीय वनभूमि का घेरा सचमुच ही मन को अन्तर्मुख कर डालता है। पर्वत की ढलान पर क्रमश: तीन सरोवर या ताल स्थित हैं। इसके एक ओर अति उच्च तुषार-आवृत्त हिमालय है, तो दूसरी ओर ५००० फीट नीचे हरा-भरा समतल है। श्याँला को 'श्यामला' में रूपान्तरित करके और उसके साथ श्यामल प्रतिछाया युक्त 'ताल' को जोड़कर विरजानन्द ने इस नवीन वनांचल को नया नाम दिया था – श्यामला ताल।

१९१४ ई. के अन्त से लेकर उन्होंने आगामी करीब १२ वर्ष इसी मठ में तपस्या आदि करते हुए बिताये थे। क्रमश: इस आश्रम से जुड़ा हुआ एक रामकृष्ण सेवाश्रम भी गठित हो उठा। श्यामला ताल में ही रहकर कठोर साधन-भजन के

साथ-ही-साथ उन्होंने स्वामीजी की जीवनी के तीसरे तथा चौथे खण्ड का सम्पादन तथा प्रकाशन का कार्य भी सम्पन्न किया। १९१९ ई. में करीब पाँच महीने उन्होंने दक्षिण भारत के तीर्थों का दर्शन तथा श्रीलंका का परिभ्रमण किया था।

विरजानन्द के मन की सहज प्रवृत्ति ही तपस्या की ओर थी और जब वे मठ तथा मिशन के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए, तब भी इसमें कोई व्यतिक्रम नहीं दीख पड़ा। उनके व्यक्तिगत जीवन की यह तपोनिष्ठा दूसरों के जीवन को भी तपस्या की ओर प्रेरित करती। उनके समीप आनेवाले और भी अनेक लोग उनके इस त्याग-तपस्या-मय आदर्श से प्रभावित हुए थे। उदाहरण के लिये संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी से प्राप्त यह स्मृति प्रस्तुत है, "विश्वरंजन महाराज ने कहा था – वे जब वाराणसी में तपस्या कर रहे थे, तब वे दोनों समय मन्दिर से प्रसाद लेकर उदरपूर्ति किया करते थे। उसी समय पूजनीय कालीकृष्ण महाराज तीर्थयात्रा करते हुए वहाँ पहुँचे और विश्वरंजन महाराज को वहाँ तपस्या करते देख बड़े आनन्दित हुए। परन्तु पूजनीय महाराज ने उनसे एक बात कही, 'देखो विश्वरंजन, बिना सेवा किये मन्दिर से प्रतिदिन प्रसाद ग्रहण करने से दाता के पाप का अंश लेना पड़ता है।' उसी दिन से महाराज के निर्देशानुसार विश्वरंजन महाराज प्रतिदिन ठाकुर की सेवा के लिये फूल तोड़कर माला बना दिया करते थे।"

श्रीमाँ के लीला-संवरण का संवाद उन्हें श्यामला ताल में ही मिला था। १९२० ई. की २१ जुलाई को जगज्जननी ने स्वधाम-यात्रा की। हिमालय के निर्जन-एकान्त जीवन के बीच इस प्रचण्ड शोक ने मातृगत-प्राण सन्तान के हृदय में जिस असह्य वेदना की सृष्टि की थी, उसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। विरजानन्द का समग्र जीवन ही मातृमय था। माँ के बारे में बोलते समय वे आसपास की सारी बातें भूल जाते थे। श्रीमाँ के बारे में लिखित उनकी स्मृतिकथा का कुछ अंश 'उद्‌बोधन' पत्रिका के श्रीमाँ-शताब्दी-विशेषांक में प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त उन्होंने माँ के विषय में अपने गहन भावों को गीतों तथा कविताओं के माध्यम से मातृ-प्रशस्ति के रूप में प्रकट किया है।

उनकी स्वयं की स्मृतियों से ज्ञात होता है कि एक बार वे स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के साथ माँ को जयरामबाटी पहुँचाने गये थे। उन्हें लगा कि यदि वे बैलगाड़ी में बैठकर गये, तो माँ की ठीक-ठीक सेवा नहीं हो सकेगी, अत: वर्धमान से जयरामबाटी तक के सुदीर्घ ग्राम्य पथ को उन्होंने माँ की पालकी के आगे-आगे दौड़ते हुए पार किया था। वे लोग माँ के किसी चट्टी में पहुँचने के काफी पहले ही पहुँचकर उनके लिये सारी व्यवस्था पूरी कर लेते। उस समय उनकी आयु काफी कम थी, हाल ही में घर से आये थे। एक चट्टी में माँ ठाकुर की पूजा आदि करने के बाद जब उन्हें अन्नभोग देने जा रही थीं, उस समय बालक कालीकृष्ण सोच रहे थे कि अपने कायस्थ शरीर से ठाकुर के लिये पकाया हुआ अन्न स्पर्श करना उचित होगा या नहीं। माँ ने अपने शिष्य-सन्तान को अभय देते हुए कहा – "हाँ, तुम ले आओ, इसमें कोई दोष नहीं होगा।"

माँ के विषय में ऐसी असंख्य घटनाएँ हैं, जिन्हें उन्होंने अपने हृदय के अन्तरंग में संरक्षित कर रखा था। माँ की अहैतुकी स्नेह-प्रीति के विषय में विरजानन्द ने आवेगपूर्ण भाषा में लिखा था – "उनकी कैसी अहैतुकी कृपा है, कैसा अहैतुकी स्नेह है ! जिसको वह मिला नहीं है, जिसने माँ को देखा नहीं है, वह इसे नहीं समझ सकेगा।"

१९२६ ई. के अप्रैल में मठ व मिशन के महा-सम्मेलन के बाद तपस्या निरत विरजानन्द को एक बार फिर कर्म-मुखर जीवन में लौट आना पड़ा था। मठ तथा मिशन के क्रमश: वर्धमान कार्यों के ठीक-ठीक संचालन हेतु संघ के वरिष्ठ संचालकों की सहायता करने हेतु जिस कार्यकारी समिति का गठन हुआ था, विरजानन्द उसके सचिव चुने गये। सचिव के कठिन उत्तरदायित्व को स्वीकार करने में तरह-तरह से असहमति प्रकट करने पर भी, संघ के संचालकों विशेषकर स्वामी सारदानन्द के अनुरोध की उपेक्षा करना उनके लिये सम्भव नहीं हो सका था। उन्होंने कहा था, "हम लोगों (श्रीरामकृष्ण के शिष्यों) के बाद तुम्हीं सबसे वरिष्ठ हो, अत: तुम्हें ही कमेटी का सचिव बनना पड़ेगा। विरजानन्द के अन्तर्मुखी प्रशान्त व्यक्तित्व ने उन्हें सबकी आस्था का केन्द्र बना दिया था। कार्यकारी समिति के इस सचिव मनोनयन के प्रसंग में मठ तथा मिशन के इतिहास से एक उद्धरण यहाँ उल्लेखनीय है – 'Swami Virajananda was chosen as Secretary for his great seniority and efficiency as also for the suavity of his temper and his detached outlook. … For his past career he commanded everybody's respect.'। (स्वामी विरजानन्द को उनकी वरिष्ठता तथा कार्यकुशलता और साथ ही उनके मधुर आचरण तथा अनासक्त दृष्टिकोण के कारण सचिव चुना गया।)

१९२७ ई. में एक बार फिर उन्हें प्रचार हेतु अमेरिका भेजने का प्रस्ताव आया। तत्कालीन मठाध्यक्ष स्वामी शिवानन्द ने उन्हें कई तरह से समझाकर प्राय: राजी भी कर लिया था। परन्तु उन्होंने श्यामला ताल से महापुरुषजी को लिखा, "ठाकुर, माँ तथा स्वामीजी से प्रार्थना करते समय इस नये आरम्भ होनेवाले कार्य के लिये कोई प्रेरणा ही नहीं पा रहा हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे अमेरिका जाने में उनकी सहमति नहीं है।"

१९२९ ई. में मिशन की कई महत्त्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में विरजानन्द ने अपने धैर्य, सहिष्णुता तथा शान्त विचार-बुद्धि के द्वारा संघ-परिचालन में विशेष सहायता की थी। मठ तथा मिशन के तत्कालीन महासचिव शुद्धानन्दजी

के समीप रहकर वे उनके कर्मभार को हल्का करने में सक्षम हुए थे। इन्हीं दिनों विरजानन्द को उद्बोधन कार्यालय तथा बागबाजार मठ और निवेदिता विद्यालय के संचालन का भार भी स्वीकार करना पड़ा था। १९३० ई. में शुद्धानन्दजी की अस्वस्थता के कारण मठ तथा मिशन के महासचिव का कार्यभार भी एक वर्ष तक विरजानन्द को सँभालना पड़ा था।

१९३४ ई. में स्वामी अखण्डानन्द के मठाध्यक्ष निर्वाचित होने पर विरजानन्द को ही स्थायी रूप से मठ तथा मिशन के महासचिव का कार्यभार स्वीकार करना पड़ा। सम्पूर्ण विश्व में श्रीरामकृष्ण की जन्म-शताब्दी महोत्सव उन्हीं की अध्यक्षता में मनाया गया। इस उपलक्ष्य में १९३७ ई. में कोलकाता के टाउन हॉल में आयोजित विश्व-धर्म-महा-सम्मेलन में रामकृष्ण मठ तथा मिशन की ओर से विरजानन्दजी का एक मर्मस्पर्शी सन्देश पढ़ा गया था। शताब्दी समारोह के उद्घाटन तथा समापन के अवसरों पर मठ में जो दो साधु-सम्मेलन हुए थे, उसके लिये उनके द्वारा लिखित दोनों व्याख्यानों ने मठ के साधु-ब्रह्मचारियों के समक्ष सचमुच ही एक नवीन आलोक प्रकट किया था।

महासचिव के रूप में विरजानन्दजी की भावमूर्ति संघ के इतिहास में चिर काल तक अक्षुण्ण बनी रहेगी। नये तथा पुराने प्रत्येक साधु तथा ब्रह्मचारी को वे जिस स्नेह तथा प्रीति की दृष्टि से देखते थे; सबके प्रति उनका जो असाधारण उत्तरदायित्व का बोध प्रकट होता, वह इस बृहत् धर्मसंघ के प्रशासनिक क्षेत्र में भी सदा आदर्श बना रहेगा। मठ के वर्तमान वरिष्ठ सदस्यों के व्यक्तिगत संस्मरणों में यह बीच-बीच में व्यक्त हो उठता है। यथा, एक वरिष्ठ संन्यासी का कहना है –

''पूजनीय कालीकृष्ण महाराज ने मेरी जिस प्रकार रक्षा की थी, उसे मैं आजीवन भूल नहीं सकता। अब भी याद आने पर आँखें नम हो जाती हैं। उनका क्या ही प्रेम-भाव था – छोटे-बड़े सबके प्रति उनकी कैसी सहानुभूति थी! अब तो ऐसा देखने में नहीं आयेगा और न कल्पना ही की जा सकेगी। तब वे मठ व मिशन के महासचिव थे। मैं काशी-सेवाश्रम का ब्रह्मचारी था। एक-एक कर तीन टेलिग्रामों में पिता की बीमारी की सूचना आयी – वे एक बार मुझे अपनी आँखों से देखना चाहते थे। मेरे पिता भी पूजनीय शिवानन्दजी महाराज के शिष्य तथा खूब भक्त थे। खैर, काशी से मुझे छुट्टी तो मिली, परन्तु एक अन्य भयंकर समस्या सामने आ पड़ी। उन दिनों स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था। हमारा घर जिस अंचल में था, उन दिनों वहाँ पुलिस द्वारा कारण-अकारण खूब धर-पकड़ चल रही थी। उन दिनों उस अंचल में स्वदेशी की हवा जोरों से बह रही थी, विशेषकर मुझे जहाँ जाना था, वहाँ के युवकों पर पुलिस का खुफिया विभाग कड़ी निगाह रख रहा था। मैंने बेलूड़ मठ जाकर कालीकृष्ण महाराज को पिता का समाचार दिया और बताया कि वे मुझे एक बार देखना चाहते हैं। उन्होंने सुनते ही मुझे जाने की अनुमति दे दी। आश्चर्य की बात यह है कि मैंने अपने मन की वह पुलिस आदि के आतंक आदि की बातें उनके सामने मुँह खोलकर नहीं कही। मेरे मन का भय मेरे मन में ही छिपा रहा। परन्तु उनकी कैसी अहैतुक करुणा तथा अन्तर्दृष्टि थी! वे मेरे मुख की ओर देखते ही बोले, 'तुम्हारे लिये भय की कोई बात नहीं। मैं एक पत्र लिखकर तुम्हारे हाथ में दे देता हूँ। कहीं कोई असुविधा होने पर वह पत्र निकालकर दिखा देना। पुलिस आदि तुम्हें कुछ भी नहीं कहेगी। तुम्हारा सारा उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है।' यह कहने के बाद उन्होंने अपने हाथ से ऐसा सुन्दर एक पत्र लिखकर मेरे हाथ में दे दिया कि मैं वह पत्र पढ़कर अवाक् रह गया। उन्होंने लिखा था, 'इस बालक के बारे में यदि किसी को किसी तरह की कोई शिकायत मिले या कोई दोष देखने को मिले, तो वह बेलूड़ मठ में सीधे उन्हीं को सूचित किया जाय। इस बालक के विषय में सारी जिम्मेदारी उन्हीं की है। लड़के को कहीं भी, किसी तरह की असुविधा में न डाला जाय। आदि आदि।' वस्तुत: महाराज के उस पत्र ने ही मेरी रक्षा की थी। खुफिया पुलिस तीन-चार बार मेरे पीछे लगी थी। बाद में घर पर भी छापा मारा था। परन्तु उन लोगों को महाराज का वह पत्र दिखाने से मेरे ऊपर कोई भी संकट नहीं आया।

एक अन्य वरिष्ठ संन्यासी ने लिखा है – ''लोगों के साथ व्यवहार की कालीकृष्ण महाराज की एक विशिष्ट रीति थी। वे सीधे कभी नहीं कहते – 'ऐसा करो' या 'ऐसा मत करना'। वे बड़े मधुर शब्दों में बता देते कि असुविधा क्या है। पत्र द्वारा भी वे ऐसा ही करते।''

१९३८ ई. में वे मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष मनोनीत हुए थे। परन्तु उसी वर्ष स्वामी शुद्धानन्दजी का तिरोभाव हो जाने के कारण संघ के संचालकों ने सर्व-सम्मति से तथा व्यक्तिगत रूप से भी उनसे संघ का नेतृत्व ग्रहण करने का बारम्बार अनुरोध किया। वे इस आग्रह को अस्वीकार नहीं कर सके। श्यामला-ताल से ११ दिसम्बर को मठाध्यक्ष के रूप में उन्होंने बेलूड़ मठ में पदार्पण किया।

विरजानन्दजी के जीवन के अन्तिम बारह वर्ष रामकृष्ण मठ तथा मिशन के परम अध्यक्ष के उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर बीते थे। अहर्निश कर्म-व्यस्तता, सम्पूर्ण रामकृष्ण संघ की विभिन्न समस्याएँ, असंख्य धर्म-जिज्ञासुओं के विविध प्रश्न तथा वार्धक्य-जनित उनकी अपनी शारीरिक अस्वस्थता आदि कुछ भी उनके अद्भुत प्रशान्त स्वभाव को एक दिन के लिये भी विचलित नहीं कर सकी। उनके जीवन में तपस्या तथा कर्म का एक माधुर्यमय समन्वय प्रस्फुटित हो उठा था। उनकी अध्यक्षता के दौरान भारत तथा समग्र पृथ्वी पर बीच-बीच में जैसे राजनीतिक,

सामाजिक, आर्थिक, तथा साम्प्रदायिक झंझावात उठते रहे; उसमें उनके समान स्थितधी पुरुष का नेतृत्व रामकृष्ण संघ के लिये सचमुच ही भगवान का आशीर्वाद सिद्ध हुआ।[१]

मठाध्यक्ष के गौरव-मण्डित पद पर अधिष्ठित रहकर देश-विदेश के असंख्य लोगों के पूजा-सम्मान के अधिकारी होकर भी उनकी दैनन्दिन जीवन-धारा अत्यन्त सहज-सरल तथा अनाडम्बर थी। विरजानन्दजी के चरित्र की विशेषता थी – गम्भीरतापूर्ण मधुरता, पौरुषयुक्त व्यक्तित्व तथा धीर-प्रशान्त निरभिमानिता। उनके विशाल नेत्रों की स्निग्ध प्रशान्त दृष्टि उनके समीप आनेवाले सभी को आकृष्ट करती थी। धर्मगुरु के रूप में उन्होंने हजारों नर-नारियों के आध्यात्मिक जीवन को परिचालित किया। अपनी वार्धक्य-जनित पीड़ा तथा शरीर धारण के लिये आवश्यक विश्राम तक की प्रसन्न चित्त से दिन-पर-दिन उपेक्षा करते हुए, वे व्यथित पीड़ित संशयार्त लोगों की वेदना की कथा सुना करते और उन्हें यथार्थ पारमार्थिक शान्ति के पथ पर चलने की प्रेरणा देते रहते। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि 'गुरु' होने का अभिमान उनके जीवन में तिल मात्र स्थान भी नहीं पा सका। वे कहते, "वास्तविक गुरु सच्चिदानन्द हैं। वे हृदय में विराजमान हैं। वे शुद्ध बुद्धि के रूप में व्यक्त होकर साधक को सर्वदा सन्मार्ग पर चलाया करते हैं। वे शुद्ध बुद्धि के रूप में व्यक्त होकर साधक से जब जिसकी आवश्यकता होती है, करा लेते हैं।... गुरु का यह वास्तविक स्वरूप सर्वदा ही शिष्य के भीतर रहता है। गुरु का स्थूल शरीर न रहने पर भी इसका अभाव नहीं होता।"

इस प्रसंग में एक संन्यासी का मर्मस्पर्शी संस्मरण यहाँ उद्धृत करने योग्य है – "एक बार मैंने विरजानन्दजी से अबोध के समान पूछा था, 'महाराज, आपका स्वास्थ्य इस समय इतना खराब है कि १०१°-१०२° तक बुखार हो जाता है। तो भी आप सुबह नौ बजे से दो-ढाई बजे तक दीक्षा के लिये बैठते हैं। आपके लिये इतना श्रम करना उचित नहीं हो रहा है। महापुरुष महाराज तो, अपने अन्तिम दिनों में बिस्तर पर बैठे-बैठे ही एक साथ अनेक लोगों को दीक्षा दे देते थे। आप भी वैसा ही क्यों नहीं करते?' मेरी यह बात सुनकर उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया, 'ठाकुर इस शरीर के द्वारा जिस पर और जितने भी लोगों पर जितनी भी कृपा करेंगे, उतना तो मुझे करना ही होगा, भाई। तो फिर मैं हड़बड़ी क्यों करूँ?' "

संघाध्यक्ष के रूप में उन्होंने कई बार भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक की यात्रा करते हुए श्रीरामकृष्ण-विवेकाननन्द के सन्देश को लोगों के घर-घर तक पहुँचा दिया था। जब भी, जहाँ भी उनका पदार्पण हुआ – जाति-धर्म-निरपेक्ष भाव से बहुत-से नर-नारी तथा बालक-वृद्ध आकर उन्हें घेर लेते और अपने-अपने भाव के अनुसार शान्ति तथा सांत्वना लेकर घर लौटते। "यदि तू अपनी मुक्ति के लिये चेष्टा करेगा, तो निश्चित रूप से जहन्नुम में जायेगा; और यदि दूसरों की मुक्ति के लिये कार्य करेगा, तो तत्काल मुक्त हो जायेगा" – लगता है कि श्रीगुरु का यह आदेश विरजानन्दजी के हृदय में सर्वदा स्पन्दित होता रहता था, इसीलिये उनके जीवन में 'परोपकार-व्रत' इतने उज्ज्वल रूप से मूर्तिमान हो उठा था। उनके नेतृत्व के दौरान रामकृष्ण-संघ द्वारा काफी विस्तार-लाभ करना ही इसका ऐतिहासिक साक्ष्य है।

अध्यक्ष होने के शीघ्र बाद ही विरजानन्दजी के शरीर में हृदय तथा यकृत के रोग दीख पड़े। पर उन्हें कर्म से भला कहाँ विश्राम ! मठ तथा मिशन के विभिन्न दायित्वपूर्ण कार्यों में लगे रहने के बावजूद संघ-संचालन की विभिन्न छोटी-मोटी बातों पर भी उनकी सदा सतर्क दृष्टि लगी रहती। संन्यासी-ब्रह्मचारियों का आध्यात्मिक जीवन-गठन भी संघनायक विरजानन्दजी का एक प्रमुख लक्ष्य था। उनके निरभिमान नेतृत्व में एक अद्भुत आकर्षण था। संघगुरु होकर भी सभी संन्यासियों के श्रेष्ठ सेवक के रूप में अपना परिचय देते हुए उन्हें एक असाधारण गौरव-बोध होता था। अपने ही संन्यासी-शिष्यों को अंग्रेजी में उपदेश देते समय उन्हें यह कहते सुना गया है, "As the chief monastic servant of the monastic servants who compose our religious order, I am bound by love, no less duty bound, to serve you all, however physically incapacitated I may be – to the last breath of my life. – अपने संघ के संन्यासी-सेवकों के प्रमुख संन्यासी-सेवक के रूप में, मैं अपने प्रेम और उससे भी अधिक अपने कर्तव्य द्वारा, अपने जीवन की अन्तिम साँस तक तुम सबकी सेवा करने को बाध्य हूँ।" इन मर्मस्पर्शी शब्दों में निहित विवेकानन्द-शिष्य विरजानन्द के व्यक्तित्व की एक मनोरम झलक दीख पड़ती है।

❖ (क्रमशः) ❖

१. Swami Virajananda ... besides having his spiritual training at the feet of Holy Mother, had served Swami Vivekananda personally, and had long worked in the Math and Mission in various important capacities. ... All these qualifications marked him out as an outstanding personality. As a matter of fact, he proved to be the most successful President, whom God spared sufficiently long to leave his impress on the organization and all its members, as also on innumerable lay devotees whom he initiated. He lived till 1951, though the first half of his regime was full of calamities due to war, starvation, and political instability. It was indeed a blessing for the organization that it had at the helm such a cool and level-headed monk to direct its spiritual life during that critical period. —*History of the Ramakrishna Math and Mission* by Swami Gambhirananda, p. 278, third edition, 1983.

न मे भक्तः प्रणश्यति (३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने सन् २००८ में कलकत्ता में अरुण चूड़ीवाल जी के आवासीय सभागृह में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन रायपुर के श्री राजेन्द्र तिवारी जी ने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

इस दु:खपूर्ण संसार में फिर से न आना पड़े, उसका प्रयत्न करना है, यही रास्ता भगवान ने हमें दिखाया है। जैसे मई का महिना है, तेज गर्मी लग रही है, तो किसी तरह से गर्मी का सहन करते हुए हिमालय में पहुँच जाओ, तो जीवन में फिर कभी गर्मी का सामना नहीं करना पड़ेगा। वैसे ही संसार के दु:खों को सहते हुये परमात्मा तक पहुँच जाओ। संसार हमें सतत् यह स्मरण दिलाते रहता है – मैं दु:खपूर्ण हूँ, दु:ख मेरा स्वभाव है, किन्तु यदि तुम मेरा उपयोग कर लोगे, तो दु:खों से मुक्त होकर शाश्वत सुख पा लोगे। इसलिये संसार का उपयोग माने? – '**भजस्व माम्**' – मेरा भजन करो।

भगवान के भजन से कैसे मुक्ति मिलेगी? भगवान का अर्थ कोई व्यक्ति-विशेष नहीं, ईश्वर है। सबसे पहले हमें यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि कोई एक परम सत्ता या एक शक्ति है, जिसे हम ईश्वर, अल्ला, गॉड (God) इत्यादि कहते हैं और जो सर्वज्ञ है। चाहे हम उसे काली के रूप में माने, या शंकर के रूप में माने, जो भी धारणा हमारी हो। यह विश्वास हमने कर लिया कि ईश्वर, भगवान या हमारे आपके इष्ट सर्वज्ञ हैं और साथ-ही-साथ सर्वशक्तिमान भी हैं। वे सब कुछ जानते हैं और सब कुछ कर सकते हैं।

अब केवल इन दो तत्त्वों को ही स्वीकार करने मात्र से भक्ति नहीं आ सकती। क्यों नहीं आ सकती? यदि हमने बहुत पाप किए हैं – 'अपिचेत् सुदुराचार:', तो क्या हमें अपने दोषों को जानकर दु:ख-पश्चाताप हो रहा है? क्या हमें अपनी दीनता का अनुभव हो रहा है? ईश्वर की प्राप्ति हेतु उन्हें सर्वज्ञ और शक्तिमान स्वीकार करने के साथ-साथ, उनके प्रति समर्पण, दीनता और व्याकुलता भी होनी चाहिये।

वेदान्त की बात छोड़ दीजिए। मैं उसकी चर्चा अभी नहीं करूँगा। लेकिन एक बात अपने इष्ट के सम्बन्ध में समझकर दृढ़ धारणा कर लेनी चाहिए कि वे सर्वज्ञ और शक्तिमान के साथ-ही-साथ परम दयालु कृपासिन्धु भी हैं। हम केवल अपने सामर्थ्य से ही ईश्वर को नहीं पा सकते। उनकी कृपा से ही वे मिलेंगे, जब तक यह विश्वास नहीं होगा, तब तक भक्ति मन में नहीं आयेगी। वेदान्त की और अद्वैत वेदान्त की बड़ी-बड़ी बातें – अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि आदि और 'मैं सब कुछ कर सकता हूँ', ये सब बातें आयेंगी। ये सब बातें तब तक ठीक लगती हैं, जब तक सारी अनुकूलतायें हैं। किन्तु जब जीवन में प्रतिकूलता आती है, तब पता चलता है कि मैं ब्रह्म हूँ कि क्या हूँ? तब क्या होता है? आप सब उस कथा से परिचित हैं।

युधिष्ठिर द्वारा दौपदी को जुआ में हार जाने के बाद दुर्योधन ने उसे भरी सभा में लाने के लिये दूत को भेजा। दूत ने द्रौपदी से कहा – महारानी, आप चलिए, आपको सभा में बुलाया जा रहा है। द्रौपदी ने पूछा, क्यों बुलाया जा रहा है? दूत ने कहा, आपको महाराज युधिष्ठिर जुए में हार चुके हैं। द्रौपदी भीतर से सुन रही थीं। उन्होंने सुना था कि युधिष्ठिर स्वयं को दाँव में लगाकर हार चुके हैं और उसके बाद शकुनि, दुर्योधन और कर्ण के उकसाने पर उन्होंने मुझको भी दाँव पर लगाया है। द्रौपदी ने दूत से कहा कि तुम जाओ और पूछकर मुझे यह बताओ कि युधिष्ठिर ने पहले मुझे दाँव पर लगाया था या अपने आपको। यदि वे पहले अपने आपको दाँव पर लगाकर स्वयं को हार चुके हों, तो उनका मुझ पर क्या अधिकार है? पर मनुष्य की बुद्धि जब भ्रष्ट हो जाती है, तो उसका पहला लक्षण यह होता है कि वह उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। भगवान गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ दर्शन का वर्णन करते हैं, उसमें मनुष्य के पतन की शृंखला बताते हैं। कैसे मनुष्य का पतन होता है। उसका केवल संकेत आपके सामने करूँगा। –

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।

मनुष्य जब वासना के अधीन हो जाता है, तो उसकी बुद्धि का नाश हो जाता है। उसके मन में उचित-अनुचित का विवेक नहीं रह जाता। समस्त कौरवों की बुद्धि का नाश हो गया था। जब दूत ने आकर बताया कि महारानी द्रौपदी पूछ रही हैं कि यह बताओ कि जब युधिष्ठिर पहले अपने को दाँव पर लगाकर हार चुके और तब मुझे दाँव पर लगाया, तो क्या मुझको दाँव पर लगाने का उन्हें अधिकार था? लेकिन इन सबकी तो बुद्धि ही विनष्ट हो गई थी। दुर्योधन ने अपने अनुज दु:शासन से कहा कि जा, उसे ले आ। दु:शासन द्रौपदी का बाल पकड़कर खींचते हुये भरी सभा में ले आया, जहाँ इतने बड़े-बड़े लोग बैठे हैं। सभा में भीष्म, कृपाचार्य, द्रोण और द्रौपदी के पाँचों महावीर पति हैं। सभा द्रौपदी के देवर दुर्योधन तथा उसके

भाइयों, कर्ण तथा अन्य सैकड़ों लोगों से भरी थी। उस सभा में द्रौपदी का बाल पकड़कर ले आया और उस महीयसी महिला को निर्वस्त्र करना चाहा। महाभारत में इसका बड़ा मार्मिक वर्णन है। महारानी द्रौपदी ने कातर दृष्टि से सबसे पहले भीष्म की ओर देखा। महात्मा भीष्म सिर झुकाए बैठे हैं कि प्रपौत्र वधु से आँखें न मिल जायें। तब द्रौपदी ने आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, अपने पतियों और अन्य लोगों की ओर देखा, पर किसी से कोई सहानभूति या सहायता का संकेत न मिला। तब अंत में चारों ओर से हारकर उसने भगवान की शरण लिया। वह भगवान को व्याकुल हृदय से पुकारने लगी – हे गोविन्द ! मेरी रक्षा करो। तुम्हें छोड़कर अब मेरा कोई नहीं है। हे प्रभु आओ और मेरी लाज बचाओ। जब द्रौपदी ने भगवान को पूर्ण समर्पण कर दिया कि अब मेरी कोई शक्ति नहीं है, तब भगवान का वस्त्रावतार हुआ और महारानी द्रौपदी का एक लोम भी अनावृत नहीं हुआ, देह के अनावृत्त होने की तो बात ही छोड़ दीजिए। कहते हैं कि दुश्शासन बहुत बलवान था। उसके बाहुओं में दस हजार हाथियों का बल था। वह जितनी साड़ी खीचता था, भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से उतनी ही साड़ी और अधिक बढ़ती जाती थी। उसकी भुजायें थक गईं। वह थककर पसीने से लथपथ हो गया। इसे सभी देख रहे हैं। धृतराष्ट्र को संजय और दूसरे लोग बता रहे हैं। धृतराष्ट्र आँखों से अंधे थे, इसलिए बताना पड़ता था और मोह से अंधे थे इसलिए समझ नहीं पा रहे थे। तब दुर्योधन ने अपमान पूर्वक कहा कि इसे छोड़ दे। ये पाण्डव हमारे दास हैं। तब द्रौपदी को वहाँ से छोड़ दिया गया। अब आप देखें, क्यों भगवान को छोड़कर उनमें से कोई भी द्रोपदी की सहायता न कर सका? जब तक द्रोपदी को भगवान को छोड़कर दूसरे से सहायता की अपेक्षा थी, तब तक भगवान ने अपना यह प्रण पूरा नहीं किया कि – न मे भक्त: प्रणश्यति – मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। भगवान ने अपना प्रण क्यों पूरा नहीं किया? क्योंकि महारानी द्रौपदी अपनी 'शक्ति की भक्त' थीं। कहीं-न-कहीं उनके मन में यह विश्वास था कि शायद मैं अपने को बचा सकूँगी। उसके पहले उन्हें पितामह और गुरुजनों पर भरोसा था। जब उन्होंने देखा कि ये मेरी रक्षा नहीं कर सकते, तब दोनों हाथ जोड़कर कहा – हे गोविन्द रक्षमाम् ! तब भगवान ने आकर उनकी रक्षा की। द्रौपदी की शरणागति के पीछे जो आस्था या विश्वास है कि मेरे सखा या कृष्ण या भगवान गोविन्द अवश्य मेरी रक्षा करेंगे, उसी ने सभा में द्रौपदी की लाज बचाई।

महाभारत में ही द्रौपदी के जीवन से ही संबंधित एक दूसरी घटना है, जिसमें भगवान के 'न मे भक्त: प्रणश्यति' का स्वरूप दिखाई पड़ता है। दूसरी बार की जुआ में धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को दासता से मुक्त कर दिया और तेरह वर्ष के वनवास में उनकी पत्नी द्रौपदी को भी साथ ले जाने की अनुमति दी। पाण्डव जब वनवास में गये, तो उसके पूर्व ही उन्हें आधा राज्य इन्द्रप्रस्थ मिल गया था। खाण्डव वन एक अत्यन्त उजाड़ वन्य प्रदेश था, जहाँ पहाड़, जंगल, वन्य ग्राम और वहाँ के रहने वाले आदिवासी थे। वही धृतराष्ट्र ने उन्हें दिया था। उसे भी भगवान ने द्वारकापुरी से आकर कैसे उसको इन्द्रपुरी के समान बना दिया था। इन्द्रप्रस्थ में राजसूय यज्ञ हुआ था। साम्राज्ञी होकर द्रौपदी वहाँ रह रही थी। अब वनवासिनी हो गई। दुर्योधन और उसके दुष्ट साथी इस षडयंत्र में थे कि कैसे पाण्डवों का नाश किया जाय। यहाँ तो द्रौपदी का अपमान नहीं कर सके। संयोग की बात, चातुर्मास का महीना था। ऋषि दुर्वासा घूमते-फिरते हस्तिनापुर में पहुँच गये। उनके साथ दस हजार शिष्य थे। दुर्योधन को पता चला तो भाइयों के साथ दौड़कर गया। धृतराष्ट्र को पता चला तो बोले, हाँ, उनका सम्मान करो। दुर्योधन तो सम्राट था। उसने जुए में पाण्डवों का राज्य भी जीत लिया था। बहुत सम्पत्ति थी उसके पास। उसने ऋषि का चार महीने बहुत स्वागत सत्कार किया। उसे दुर्वासा के स्वागत-सत्कार में श्रद्धा नहीं थी। उसके मन में दो भाव थे भय और द्वेष। एक तो यह था कि कब दुर्वासा ऋषि क्रोधित होकर अभिशाप से भस्म कर दें, या कुछ कर दें या सर्वनाश कर दें। इसका भय था। आज भी हम कहते हैं, अरे भैय्या ! वह दुर्वासा है, उससे कुछ मत कहना ! ऐसे थे दुर्वासा ऋषि ! दुर्योधन के मन में दूसरा भाव था द्वेष। वह पाण्डवों से द्वेष करता था। हमेशा पाण्डवों का अहित ही चाहता था। इसलिये दुर्योधन और सभी कौरवों ने मिलकर चतुर्मास में ऋषि दुर्वासा की बड़ी सेवा की। दुर्वासा बड़े प्रसन्न हुए।

अब हम देखें कि दुष्ट बुद्धि कैसी होती है ! जब चातुर्मास समाप्त हुआ, तब ऋषि ने प्रसन्न होकर दुर्योधन से कहा, युवराज ! तुम्हारी सेवा से मैं बड़ा प्रसन्न हूँ, तुम कुछ वरदान माँग लो। जो चाहे माँग लो। दुर्योधन दुर्वासा से कह सकता था कि मुझे सद्बुद्धि दीजिए, भगवान के चरणों में मुझे भक्ति दीजिये। आपके शिष्यों के समान मैं भी सच्चरित्र हो जाऊँ या संसार का ही सुख मुझे मिलता रहे – मैं पुत्र-पौत्र, पत्नियों के साथ सब प्रकार से सुखी रह सकूँ, जीवन का आनन्द ले सकूँ। ऋषि प्रसन्न थे, कुछ भी दे सकते थे। किन्तु दुर्योधन ने ऐसा वरदान कुछ भी नहीं माँगा। उसने क्या माँगा?

❖ (क्रमशः) ❖

कर्मयोग की साधना (५)

स्वामी भजनानन्द

(गीता में कहा गया है – ''किं कर्म किं अकर्म इति कवयोऽप्यत्र मोहिता: – कर्तव्य क्या है और क्या नहीं, इस विषय में विवेकवान लोग भी भ्रमित हो जाया करते हैं।'' भारत में कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा का विवाद अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने वर्तमान युग के मनुष्य के कर्तव्य के रूप में 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' नामक एक नवीन कर्मयज्ञ का प्रवर्तन किया है। वर्तमान लेखमाला में इस कर्मतत्त्व की ही मीमांसा की गयी है और बताया गया है कि किस प्रकार निष्काम कर्म हमें जीवन के चरम लक्ष्य – आत्मा-ईश्वर या ब्रह्म की उपलब्धि करा सकता है। इसका प्रकाशन पहले अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के अंकों में और तदुपरान्त रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ से पुस्तक के रूप में हुआ। वहीं से 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये प्रस्तुत है उसका हिन्दी अनुवाद। – सं.)

१३. कर्म और प्रेम

एक कर्मयोगी – अन्तर्मुखी होने की स्वाधीनता – इच्छा-शक्ति को कामनाओं से मुक्त कर लेने की स्वाधीनता को अपने कर्म में पूर्णता लाने तथा मानव-मात्र की सेवा करने में नियोजित करता है। कर्मयोगी द्वारा मन को अन्तर्मुखी करने का उद्देश्य है – जगत् के कल्याण हेतु अपनी आन्तरिक शक्तियों को बाहर अभिव्यक्त करना। अत: उसकी साधना दो दिशाओं में चलती है – मानसिक शक्तियों को गहन तथा एकाग्र करने हेतु अन्दर की ओर; और इन शक्तियों का विस्तार करके उन्हें समाज-सेवा में लगाने हेतु बाहर की ओर। यह द्विविध गति कर्मयोग का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है, जो इसे अन्य सभी योगों से पृथक् करती है।

वह कौन-सी शक्ति है, जो कर्मयोगी को बाहर की ओर खींचती है और दूसरों का बोझ स्वीकार करने को बाध्य करती है? यह प्रेम की शक्ति – स्वार्थपूर्ण प्रेम नहीं, बल्कि बिना किसी प्रत्याशा के उन्मुक्त रूप से दिया जानेवाला प्रेम। प्रेम कर्मयोग का एक अविच्छेद्य पहलू है।

मानवीय प्रेम को सामान्यत: आध्यात्मिक प्रगति में बाधक भावुकता का एक रूप माना जाता है। प्रेम को कामनाओं तथा निम्न प्रवृत्तियों के साथ घालमेल कर डालने के फलस्वरूप ही उसके विषय में भ्रान्ति फैली हुई है। सच्चा प्रेम, न तो भावुकता है और न कामना ही। यह एक रहस्यमय जोड़नेवाली शक्ति है, जो ब्रह्माण्ड का ताना-बाना स्वरूप है। वस्तुत: इसे जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के माध्यम से स्पन्दित होनेवाली मूलभूत स्वरलहरी है। इसकी अनन्त अभिव्यक्तियाँ हैं। यह कभी व्यक्तिगत नहीं हो सकता। आप इसे पैदा नहीं कर सकते, यही आपको पैदा करता है। प्रेम को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यह समझना एक भ्रान्ति है कि प्रेम व्यक्ति की एक विशेष सृष्टि है या ऐसा कुछ है, जिसे हमें (बाहर से) प्राप्त करना है। यह एक सार्वभौमिक शक्ति है, जो स्वत:स्फूर्त हो सभी जीवधारियों में प्रकट हो उठती है। प्रेम में असफल होने का मुख्य कारण यह है कि बहुत-से लोगों में अपने अन्दर से व्यक्त हो रहे इस नैसर्गिक शक्ति को भलीभाँति नियमित करने के लिये यथेष्ट परिपक्वता नहीं होती।

ईसाई धार्मिक साहित्य में मानवीय प्रेम के पक्ष में स्पष्ट तथा सशक्त रूप से कहा गया है। परन्तु हिन्दू धर्मग्रन्थ इस विषय में अपेक्षाकृत संयमित हैं तथा इस पर कम बल देते हैं। इसीलिये आलोचना के रूप में कहा जाता है कि हिन्दू धर्म शुष्क बौद्धिकता तथा पूर्ण अहंकार की शिक्षा देता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि हिन्दू धर्म में प्रेम को अस्तित्व की अखण्डता के साथ एकाकार कर दिया गया है। जो कुछ भी मनुष्य को मनुष्य से और मनुष्य को ईश्वर से जोड़ता है, वही प्रेम है। एक हिन्दू बालक कभी अपनी माँ से नहीं कहता – ''मम्मी, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ;'' क्योंकि माँ तथा शिशु के बीच का आपसी सम्बन्ध इतना स्वाभाविक तथा स्वत:स्फूर्त होता है कि कोई भी शाब्दिक अभिव्यक्ति इसमें कृत्रिमता ला देगी। इसी प्रकार एक हिन्दू भक्त ईश्वर से यह नहीं कहता – ''हे प्रभो, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।'' बल्कि वह उसके साथ एकाकार हो जाना चाहता है। इस प्रकार प्रेम ब्रह्म का एक अविच्छेद्य अंग है। परन्तु परम ब्रह्म में प्रेम के ठीक-ठीक स्थान-निर्धारण के विषय में हिन्दू दार्शनिकों के बीच मतभेद है। श्री शंकराचार्य ज्ञान की शुद्धता को बनाये रखने के लिये उसे कर्म के अन्तर्गत रखते हैं। श्री रामानुजाचार्य प्रेम को ज्ञान का एक विशेष रूप मानते हैं। स्वामी विवेकानन्द प्रेम को आनन्द के साथ अभिन्न बताते हैं। वल्लभाचार्य भी ऐसा ही कहते हैं। सृष्टि को ईश्वर के सार-तत्त्व की आत्म-अभिव्यक्ति माननेवाला बंगाल का वैष्णव सम्प्रदाय प्रेम को ईश्वर द्वारा उनके अपने आनन्द का स्व-आस्वादन मानता है। एक कर्मयोगी के दृष्टिकोण से प्रेम सम्भवत: सत् की अभिव्यक्ति के रूप में अधिक सार्थक है।

सार्वभौमिक प्रेम की सुरलहरी के साथ अपनी गतिविधियों को समायोजित करना ही कर्मयोग है। एक संसारी व्यक्ति भी कर्म करता है, परन्तु उसमें तथा एक कर्मयोगी में भेद यह है कि प्रेम का किस प्रकार उपयोग किया जाता है ! प्रथमत: तो संसारी व्यक्ति में प्रेम की मात्रा अति अल्प होती है; क्योंकि

वह घृणा, ईर्ष्या, लोभ तथा अन्य नकारात्मक भावों द्वारा अपने भीतर से होकर प्रवाहित होनेवाले सार्वभौमिक प्रेम की धारा को अवरूद्ध कर देता है। दूसरी ओर, कर्मयोगी का प्रेम एक नदी के समान प्रवाहित होता है। द्वितीयत: संसारी व्यक्ति के पास जो थोड़ा-बहुत प्रेम है, वह उसे अपने आप से बाहर निकलकर दूसरों तक पहुँचने से रोकने का प्रयास करता है, पर वह अपने अन्दर केवल एक भँवर या मलकुण्ड बनाने में ही सफल हो पाता है। इसके फलस्वरूप प्रेम उसके लिये संघर्ष तथा पीड़ा का ही स्रोत बनकर रह जाता है। उनमें एक तीसरा भेद इस तथ्य में निहित है कि संसारी व्यक्ति प्रेम की शक्ति से अपरिचित है। उसका प्रेम प्रवृत्तिगत तथा अप्रबुद्ध होता है; यह दूसरों के दृष्टिकोण की एक प्रतिक्रिया मात्र होता है। वह कमो-बेश प्रेम का एक असहाय शिकार मात्र होता है। दूसरी ओर एक सच्चा कर्मयोगी प्रेम की प्रचण्ड शक्ति को जानता है और वह इसका स्वामी तथा नियन्ता होता है। प्रेम उसके भीतर से, सुनियंत्रित परन्तु प्रभूत रूप में, दूसरों की ओर प्रवाहित होता रहता है। वह दूसरों को अपने साथ बाँधने की चेष्टा नहीं करता, अपितु सभी लोगों को परम लक्ष्य की ओर जानेवाले उनके अपने-अपने मार्ग में सहायता तथा मार्गदर्शन करता है।

इस प्रकार कर्म द्वारा मन को अन्तर्मुखी बनाना और प्रेम की धारा को जगत् के कल्याण हेतु परिपक्व, सचेतन, नि:स्वार्थ भाव से सुनियंत्रित करना – कर्मयोग के ये दो महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य हैं।

१४. कर्मयोग तथा बुराई की समस्या

अपेक्षाकृत अधिक निर्जन में अभ्यास की जानेवाली कुछ अन्य साधनाओं के विपरीत, कर्मयोग आध्यात्मिक आदर्श को जीवन-युद्ध के मैदान में लाकर खड़ा कर देता है। कर्म-योग केवल तभी सार्थक बन सकता है, जब इसके सिद्धान्तों का जीवन के सभी क्षेत्रों तथा परिस्थितियों में उपयोग किया जाय। जीवन एक सतत गतिशील धारा है और हम स्वयं को चिर-परिवर्तनशील परिस्थितियों में पाते हैं, जिनमें से कोई-कोई तो कठिनाइयों से परिपूर्ण रहती हैं। फिर हमें विभिन्न प्रकार के लोगों के साथ रहना पड़ता है और उनमें से सभी हमारे प्रति सद्भाव नहीं रखते। इन सबके बीच, जीवन के एक तत्त्व को, कोई पूरी तौर से टाल नहीं सकता; धर्मशास्त्री तथा दर्शनशास्त्री इसे बुराई या पाप कहते हैं।

बुराइयाँ तीन प्रकार की होती हैं। छूआछूत, जातिवाद, गरीबों का शोषण आदि विभिन्न प्रकार के सामाजिक अन्याय प्रथम प्रकार की बुराई के अन्तर्गत आते हैं। दूसरे प्रकार की बुराई है – हम जिन लोगों के साथ रहते तथा कार्य करते हैं, उनके दोष। किसी व्यक्ति के अधिकारी, सहकर्मी, पड़ोसी, नातेदार तथा अन्य लोगों का अनैतिक, क्रूरतापूर्ण एवं अनुचित व्यवहार उसके मन में काफी चिन्ता तथा पीड़ा उत्पन्न कर सकता है। ऐसे लोगों के साथ रहना या कार्य करना सचमुच ही अत्याचार है। बुराई का तीसरा प्रकार है – अस्तित्व-सम्बन्धी बुराई। इस प्रकार की बुराई किसी व्यक्ति के कारण नहीं होती, बल्कि यह जीवन का एक मूलभूत लक्षण है। मृत्यु, रोग, स्वयं से घृणा, बिना किसी ज्ञात कारण के चिन्ता या भय, अपराध-बोध, पाप-चेतना, निरर्थकता, आत्मग्लानि आदि – ये अस्तित्वमूलक बुराई के कुछ सामान्य रूप हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में बुराई के इन रूपों में से एक, दो या सभी का सामना करना पड़ता है। कर्मयोगी का प्रमुख उद्देश्य बुराइयों का नाश नहीं, बल्कि ईश्वर की अनुभूति है। तो भी बुराई की समस्या कर्मयोग के मार्ग की एक गम्भीर बाधा बन सकती है। जब विभिन्न प्रकार की बुराइयों से सामना होता है, तो कुछ लोग ईश्वर या कर्मयोग की उपयोगिता में विश्वास खो बैठते हैं और कुछ लोग बुराई की शक्ति के समक्ष टूट जाते हैं, या घुटने टेक देते हैं।

चूँकि किसी-न-किसी रूप में बुराई का सामना जीवन का एक अपरिहार्य अंग है, अत: कर्मयोगी को जानना होगा कि इससे कैसे निपटा जाय। सर्वप्रथम तो एक परिपक्व जीवन-दर्शन का विकास करना आवश्यक है, जो बुराई को उसका उचित स्थान प्रदान करता हो। कुछ धर्मों में बुराई का मानवी-करण करके उसे शैतान कहा गया है। यद्यपि यह एक निम्न-स्तरीय धारणा है, तथापि इसमें लाभ यह है कि यह बुराई को बिल्कुल सच्चे-जैसा प्रतीत कराता है। भारतीय धर्मों में बुराई को एक तरह का अज्ञान माना गया है। यद्यपि यह धारणा बौद्धिक दृष्टि से अधिक सन्तोषजनक प्रतीत होगी, (परन्तु) यह बुराई की सत्यता की उपेक्षा करती-सी लगती है। इन परम्परागत दृष्टिकोणों में से हम किसी भी एक को स्वीकार कर सकते हैं, परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम अपने निजी अनुभवों के आधार पर जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण बनाते हैं।

द्वितीयत: कर्मयोगी को यह सीखना होगा कि कर्म के दौरान अपरिहार्य रूप से आनेवाली बुराई से कैसे अप्रभावित रहा जाय। इसे करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है – स्वयं को अपने सच्चे स्वरूप, अन्तरात्मा, जिसे प्रत्यगात्मा कहते हैं, के साथ एकात्मता का बोध करना। जिन लोगों ने उच्चतर बुद्धि के जागरण का आंशिक रूप से भी बोध किया है, उनके जीवन में यह तादात्म्य अपने आप ही उपस्थित होता है। अन्य लोगों के लिये दीर्घ काल तक मनन द्वारा प्राप्त आत्मा के स्वरूप के विषय में एक बौद्धिक निश्चिन्तता भी काफी सहायक है। निरन्तर विवेक तथा अनासक्ति के अभ्यास के द्वारा अपने आध्यात्मिक स्वरूप के बारे में ऐसी निश्चितता के भाव को सदैव जाग्रत बनाये रखना होगा।

बुराई का सामना करने के विषय में तीसरी बात यह है – सभी परिस्थितियों में नैतिक आदर्श को पकड़े रहने की आवश्यकता। जीवन-नदी विपरीत दिशाओं में बहनेवाली दो धाराओं से मिलकर बनी है – धर्म या अच्छाई की धारा और अधर्म या बुराई की धारा। कर्मयोगी को सर्वदा स्वयं को अच्छाई की धारा से जोड़ना होगा। ऐसा वह तभी कर सकता है, जब उसके मन में अन्ततः बुराई पर भलाई के विजय के विषय में अटल विश्वास हो। दुर्भाग्यवश अनेक भले प्रतीत होनेवाले लोगों में यह विश्वास नहीं होता। उनमें से कुछ तो ऐसा विश्वास करने लगते हैं कि बुरे साधनों के द्वारा ही बुराई पर विजय पाई जा सकती है और इस कारण वे बुरे लोगों से निपटने के लिये या भले कार्य सम्पन्न करने के लिये भी अनैतिक साधनों का उपयोग करते हैं। (परन्तु) कर्मयोग में ब्रह्माण्ड की नैतिक व्यवस्था के साथ समायोजन रखते हुए कर्म किया जाता है; और यदि कोई कर्म इस व्यवस्था का उल्लंघन करता है, तो उसके गम्भीर परिणाम होते हैं। नैतिकता की सुदृढ़ नींव के बिना कर्मयोग-साधना के लिये प्रयास करना एक निरर्थक श्रम मात्र है। ईश्वर एक पश्चाताप करनेवाले पापी की रक्षा कर सकते हैं, परन्तु वे किसी पश्चातापरहित, षड्यंत्रकारी पापी की रक्षा कभी नहीं करते।

१५. कर्मयोग तथा सृजनशीलता

ईश्वरप्राप्ति तथा मुक्ति ही कर्मयोग का परम उद्देश्य है। परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मनुष्य के अन्दर सत्य-शिव तथा सुन्दर नामक उच्चतर आदर्शों की खोज करने और अपनी अनुभूतियों, आकांक्षाओं, प्रतिभाओं तथा क्षमताओं को व्यक्त करने की भी जन्मजात प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति को सृजनशीलता या रचनात्मक प्रवृत्ति कहते हैं। इसी भाव से प्रेरित होकर प्रतिभावान लोग कविताएँ लिखते हैं, चित्रकारी करते हैं, गीत रचते हैं, शोध करते हैं, नये सत्यों की खोज करते हैं और नयी मशीनों का आविष्कार आदि करते हैं। सामान्य लोगों में भी यह सर्जना शक्ति देखने को मिलती है, भले ही उसकी बाह्य अभिव्यक्ति उतनी भव्य या प्रभावी न हो। महान् कला-समालोचक आनन्द कुमारस्वामी कहते हैं – "कलाकार एक विशेष प्रकार का व्यक्ति नहीं होता, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार का कलाकार होता है।"[३०]

३०. टॉमस मर्टन द्वारा अपनी पुस्तक Silent Life में उद्धृत (द नूनडे प्रेस, न्यूयार्क, १८वाँ सं., १९९८, पृ. २९

कार्ल मार्क्स ने सृजनशीलता की प्रवृत्ति को ही मानवीय श्रम के लिये मूलभूत प्रेरणा माना है। पशुओं से मनुष्य इस बात में भिन्न है कि वह केवल खाने और सोने में ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता। वह स्वयं को अभिव्यक्त करना चाहता है, अपनी सृजनात्मक सम्भावनाओं को रूपायित करना चाहता है, अपनी अन्तरात्मा की आकुलता को बाहर ढालना चाहता है। इन सृजनात्मक कार्यों द्वारा ही मनुष्य अपनी अन्तरात्मा के विविध पहलुओं की खोज करता है; इसीलिये मार्क्स ने सृजनशीलता का आत्मबोध से तादात्म्य स्वीकार किया है (यहाँ आत्मा का अर्थ है निम्नतर आत्मा अर्थात् अहं)। मार्क्स के मतानुसार यह आत्मबोध ही मानवीय श्रम का मुख्य उद्देश्य है और यदि वह इस उद्देश्य में विफल रहता है, तो श्रमिक का जीवन निरर्थक हो जाता है।

कुर्ट गोल्डस्टीन, अब्राहम मैस्लो आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक सृजनशीलता को 'self-actualization' (आत्म-रूपायन) कहते हैं; और वे भी इसे मानव-जीवन का एक अत्यावश्यक पहलू मानते हैं। परन्तु, जहाँ मार्क्स के मतानुसार सभी लोगों के लिये कर्म के द्वारा आत्मानुभूति सम्भव है, वहीं मैस्लो का मत है कि यह आत्म-रूपायन केवल आइंस्टीन, गांधी आदि कुछ असाधारण व्यक्तियों के द्वारा ही सम्भव हो पाता है।

यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है – क्या सृजनशीलता को कर्मयोग के साथ समन्वित किया जा सकता है? और भी स्पष्ट रूप से कहें, तो अपनी सृजनात्मक प्रवृत्ति को कला, विज्ञान आदि के विभिन्न रूपों के माध्यम से अभिव्यक्त करने के अपने प्रयास को क्या अपनी मुक्ति के लिये प्रयास के साथ जोड़ना सम्भव है? उसका उत्तर है – हाँ सम्भव है। ये दोनों ही प्रयास एक-दूसरे के परिपूरक माने जा सकते हैं। मनुष्य की सृजनात्मक प्रवृत्ति को कर्मयोग के द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान किया जा सकता है। एक सच्चा कर्मयोगी – न केवल अपना कर्म, अपितु गायन, चित्रकारी, लेखन आदि सब कुछ नि:स्वार्थ भाव से, ईश्वर के एक यंत्र के रूप में करता है। वह जानता है कि उसके अन्दर की सृजनात्मक प्रवृत्ति – समष्टि जीवन के रचनात्मक क्रियाशीलता की एक अभिव्यक्ति मात्र है; और इस कारण वह अपनी सारी सृजनात्मक प्रतिभाओं तथा उपलब्धियों को मानव-जाति के कल्याण हेतु एक आहुति के रूप में अथवा ईश्वर को भेंट के रूप में अर्पित कर देता है। इसके अतिरिक्त वह अपने दैनन्दिन जीवन के सामान्य कार्य भी कलात्मक रूप से सम्पन्न करता है।

❖ (क्रमशः) ❖

Ramakrishna Mission

Near RIMS Hopital, Kadapa 516002 (A.P.) Phone 200120, 200633
E-mail : kadapamath@yahoo.com web : www.rkm-kadapa.org

एक अपील

श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा, श्री स्वामी विवेकानन्द जी की कृपा और भक्ति तथा मित्रों के हार्दिक सहयोग से कड़प्पा के रामकृष्ण मिशन ने अल्प समय में ही काफी उन्नति कर ली है। रिम्स अस्पताल के निकट स्थित १० एकड़ के परिसर से अब मिशन की प्रमुख गतिविधियाँ संचालित हो रही हैं। (१) एक नि:शुल्क छात्रावास, जिसमें ग्रामीण अंचल के हाई स्कूल के छात्रों को रखा जाता है। वर्तमान में – ३० बच्चे। (२) विशाल सभागार – विभिन्न सांस्कृतिक तथा धार्मिक कार्यक्रमों हेतु। (३) कार्यालय, ग्रन्थालय तथा साहित्य विक्रय भवन। (४) विवेकानन्द विद्या-निकेतन स्कूल भवन। (५) सन्त-निवास और (६) कर्मचारी-आवास।

आश्रम में पूजा, भजन, प्रवचन, आध्यात्मिक शिविर, मुफ्त पुस्तकालय तथा मुफ्त साप्ताहिक होम्योपैथी चिकित्सा की नियमित गतिविधियाँ चलती हैं। इसके अतिरिक्त आदर्श शिक्षण, कृषि प्रशिक्षण, अँग्रेजी में बोलने की शिक्षा आदि कार्यक्रम भी आयोजित किये जाते हैं। आवश्यकतानुसार भोजन-वस्त्र आदि वितरण के रूप में नारायण सेवा भी की जाती है, जैसा कि अक्टूबर २००९ में कर्नूल जिले में आयी भयंकर बाढ़ के समय किया गया था।

श्रीरामकृष्ण के सार्वजनीन मन्दिर की आधारशिला, रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलूड़ मठ के उपाध्यक्ष श्रीमत स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज के कर-कमलों से ६ सितम्बर, २००९ को स्थापित की गई थी। मन्दिर का निर्माण कार्य यथाशीघ्र आरम्भ करने में हम आपके हार्दिक सहयोग की अपेक्षा करते हैं। स्कूल के लिये फर्नीचर, वाहन तथा शैक्षणिक गतिविधियों के सुचारू परिचालन हेतु एक स्थायी कोष के निर्माण की भी आवश्यकता है।

सार्वजनीन मन्दिर

* पूजागृह २०'x२०' मुख्य गुम्बज की ऊँचाई पर ४२ फीट
* प्रार्थना हॉल – ५५' x ३३', बैठने की क्षमता २२५ व्यक्ति
* बरामदा १६३' x ९.७५' तीन तरफ, क्षमता १५० व्यक्ति
* सामने खुला बरामदा – ८०'x४०', क्षमता – २५० व्यक्ति
* पूजा व्यवस्था कक्ष तथा भंडार।

हम एक बार पुन: आपसे निम्नलिखित में से किसी भी मद में उदारतापूर्वक दान करने का अनुरोध करते हैं –

श्रीरामकृष्ण का सार्वजनीन मन्दिर – रु. १४० लाख
स्कूल के लिए फर्नीचर, उपकरण, २ बस – रु. २५ लाख
शैक्षणिक तथा अन्य गतिविधियों के
सुचारु परिचालन हेतु – रु. १०० लाख

राशि छोटी या बड़ी, सधन्यवाद स्वीकार की जायेगी। आश्रम को दिये गये दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अन्तर्गत कर मुक्त है।

कृपया चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन, कड़प्पा' (Ramakrishna Mission, Kadapa या (Cuddapah) के नाम से बनवायें – जो कड़प्पा (Kadapa) में प्रदेय हों।

प्रभु की सेवा में

स्वामी आत्मविदानन्द
सचिव